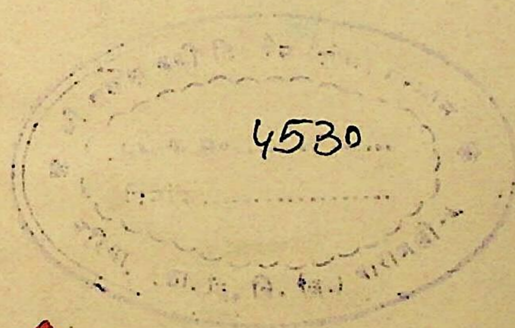
डॉ० कोमलचन्द्र जैन

पालि साहित्य का इतिहास

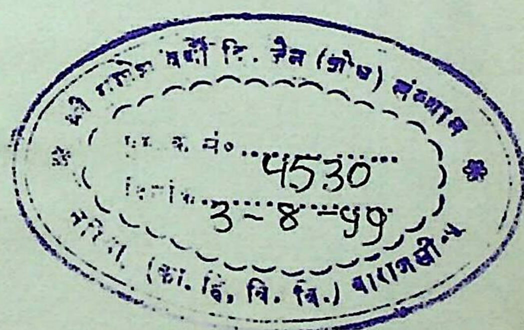




विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

पालि-साहित्य का इतिहास

डॉ० कोमलचन्द्र जैन
रीडर-पालि
पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी





विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

PALI-SAHITYA KA ITIHAS

by

Dr. Komal Chandra Jain

1987

प्रथम संस्करण : १९८७ ई०

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक : शीला प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

श्रद्धेय डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य
(प्रोफेसर-संस्कृत, का० हि० वि० वि०)

को

सादर

समर्पित

जिन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में
पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग
की स्थापना में महत्त्वपूर्ण
भूमिका निभायी

कोमलचन्द्र जैन

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में पालि-साहित्य का विशेष महत्त्व है, क्योंकि अन्धकार से ढके भारतीय इतिहास को सर्वप्रथम पालि-साहित्य ने ही आलोकित किया है। यदि पालि-साहित्य न होता तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक का भारतीय संस्कृति का इतिहास आधार-विहीन हो जाता। पालि-साहित्य की सहायता से ही भारत का निश्चयात्मक इतिहास प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त इसी साहित्य से भगवान् बुद्ध, उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म एवं संस्थापित संघ की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। पालि भाषा मध्ययुगीन भारतीय आर्य-भाषाओं में से एक है। इस भाषा का स्वरूप भी पालि-साहित्य में सुरक्षित है। इन सभी कारणों को ध्यान में रखकर आज इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के ज्ञान के लिए पालि-साहित्य का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

पालि-साहित्य के अन्तर्गत तिपिटक को बौद्ध धर्म की स्थविरवादी परम्परा मूल-आगम के रूप में स्वीकार करती है। उसी परम्परा के प्रमुख भिक्षु बुद्धदत्त, बुद्धघोस एवं धम्मपाल ने सिंहली भाषा में विद्यमान तिपिटक के अट्ठकथा-साहित्य को पुनः पालि भाषा में परिवर्तित किया था। ईसा की छठी शताब्दी के बाद भारत में स्थविरवादी परम्परा का ह्रास होने लगा और स्थविरवादी भिक्षुगण लंका के विहारों में जाकर रहने लगे। फलस्वरूप भारतीय पालि-साहित्य से दूर होते गये। इसके विपरीत लङ्का, बरमा, थाई तथा स्याम जैसे देश स्थविरवादी परम्परा के गढ़ बनते गये और वहाँ पालि-साहित्य की सुरक्षा एवं अभिवृद्धि में नाना प्रयास किये गये। अंग्रेजों ने जब पालि-साहित्य को पढ़ा तो उन्होंने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया। फलस्वरूप उन्होंने पालि-साहित्य के ग्रन्थों को रोमन-लिपि में परिवर्तित कर उनका अंग्रेजी-अनुवाद प्रकाशित करने में आशातीत उत्साह दिखाया। आज स्थिति यह है कि पालि-साहित्य के सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अंग्रेजी-अनुवाद उपलब्ध है।

वर्षों से पालि-साहित्य के भूले-बिसरे महत्त्व को महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप ने पुनः स्मरण कराया और इस त्रिमूर्ति के प्रयासों के फलस्वरूप भारत में संस्कृत के साथ-साथ पालि भाषा एवं उसके साहित्य को जानने की उत्सुकता उत्पन्न हुई है। आज भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में पालि भाषा एवं उसके साहित्य के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की जा रही है। इसके अतिरिक्त पालि-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का देवनागरी लिपि में प्रकाशन हो रहा है। नव नालन्दा महाविहार नालन्दा से तिपिटक ४१ खण्डों में प्रकाशित हो

चुका है। वहीं से देवनागरी लिपि में अट्ठकथाओं एवं वंस-साहित्य के ग्रन्थों के प्रकाशन का क्रम जारी है। अनुपिटक-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ मिलिन्दपञ्हो एवं उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार व्याकरण, छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, कोश, एवं काव्य सम्बन्धी भी अनेक ग्रन्थ देवनागरी लिपि में आज उपलब्ध हैं। पालि-साहित्य के उक्त विभिन्न ग्रन्थों का देवनागरी लिपि में प्रकाशन होने से भी पालि-साहित्य के प्रति पाठकों की जिज्ञासा बढ़ी है।

इस प्रसङ्ग में एक बात बड़े दुःख के साथ लिखनी पड़ रही है कि एक ओर जहाँ पालि भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार का प्रयत्न चल रहा है, वहीं दूसरी ओर वर्गविशेष के कुछ लोग एक विशेष प्रकार की भ्रान्ति फैला रहे हैं कि बौद्ध-विद्या के महत्त्व के समक्ष पालि भाषा एवं साहित्य का महत्त्व नगण्य है। उनका कहना है कि पालि भाषा में विद्यमान ग्रन्थों का ज्ञान तो अंग्रेजी या अन्य भाषा में सम्पन्न अनुवाद-ग्रन्थों से भी किया जा सकता है। अतः जहाँ कहीं पालि भाषा का स्वतन्त्र विषय के रूप में पठन-पाठन हो रहा हो वहाँ उसके स्थान पर पालि एवं बौद्ध-विद्या विषय कर दिया जाय और पालि भाषा एवं साहित्य की अपेक्षा बौद्ध-विद्या के पठन-पाठन पर अधिक जोर दिया जाय। कितनी भयावह है यह भ्रान्ति! यदि किसी भाषा के स्वतन्त्र अस्तित्व को नष्टकर उसमें धर्म एवं दर्शन की घुसपैठ करायी गयी तो विश्व-विद्यालयों में कोई भी भाषा स्वतन्त्र विषय के रूप में नहीं रह सकेगी। कारण, प्रत्येक भाषा का किसी न किसी धर्म-दर्शन से सम्बन्ध होता ही है। इसके अतिरिक्त यह बात समझ में नहीं आती है कि बौद्ध-विद्या के तथाकथित समर्थक पालि को स्वतन्त्र विषय के रूप में देखकर हैरान क्यों हैं? सच्चे बौद्ध-विद्या-प्रेमी को तो इस बात पर गौरव का अनुभव करना चाहिए कि बौद्ध-विद्या का प्रतिनिधित्व करने वाली एक मात्र पालि भाषा के पठन-पाठन की व्यवस्था कर उसे भारत में समुचित सम्मान दिया जा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि पालि-साहित्य में वह सब कुछ है जो अन्य भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह साहित्य बुद्ध, धर्म तथा संघ का सबसे बड़ा परिचायक है। इसका अनुभव तभी किया जा सकता है जब स्वार्थपूर्ण दुराग्रह को त्यागकर निष्पक्ष भाव से उस साहित्य का अध्ययन किया जाय। अकेला तिपिटक एवं अट्ठकथा-साहित्य ही लगभग तीन महाभारत के बराबर है।

पालि-साहित्य के समृद्ध रूप को ही इस पुस्तक में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। लंका, बरमा एवं थाई देशों में पालि के ग्रन्थों की जो रचना हुई है उसका विस्तृत विवरण तो अभी आना शेष है। किन्तु इन देशों के भी पालि-साहित्य का संक्षिप्त विवरण इस पुस्तक में यथास्थान दिया गया है। अभी तक राष्ट्र भाषा हिन्दी में पालि साहित्य के जो इतिहासपरक ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें कुछ अति विशाल हैं तो कुछ अति संक्षिप्त।

साथ ही वे ग्रन्थ आज सुलभ नहीं हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत पुस्तक लिखी गयी है। इस पुस्तक को सारगर्भित एवं उपयोगी बनाने के लिए हर-सम्भव प्रयास गया है। फिर भी अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है, जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा-याचना करता हूँ। मैं अपने विद्वान पाठकों तथा छात्रों से एक बात यह भी कहना चाहता हूँ कि अगर वे इस पुस्तक में कोई कमी या त्रुटि पायें तो लेखक को कृपया सूचित कर दें, ताकि अगले संस्करण में उन्हें दूर किया जा सके। यदि यह पुस्तक विद्वानों एवं छात्रों को उपयोगी एवं प्रिय हो सकी, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने में मुझे जिन लोगों से उत्साह या सुझाव प्राप्त हुए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। सर्वप्रथम मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर श्रद्धेय डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में समय-समय पर उचित परामर्श दिये हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मराठी विभाग के अध्यक्ष प्रो० डा० वा० के० लेले का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने के लिए मुझे उत्साहित किया है। कला संकाय के भूतपूर्व प्रमुख प्रो० आनन्द कृष्ण जी का भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनका मुझे बहुमूल्य आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। डा० कमलेशकुमार जैन प्राध्यापक-जैनदर्शन, का० हि० वि० वि० वाराणसी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को ध्यान-पूर्वक पढ़कर उचित परामर्श दिये हैं। अन्त में मैं श्री पुरुषोत्तमदास मोदी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी प्रकाशन-संस्था से इसे प्रकाशित किया है।

कोमलचन्द्र जैन

१३३/१३४ ए, रवीन्द्रपुरी
वाराणसी
दिनांक १५-१२-८६



विषय-सूची



पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

पालि भाषा संस्कृत तथा प्राकृत के समान ही एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। प्राचीन भारतीय साहित्य प्रधानतः इन्हीं तीन भाषाओं (संस्कृत, पालि तथा प्राकृत) में उपलब्ध होता है। इनमें से संस्कृत में भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण और श्रमण—इन दोनों परम्पराओं का साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। प्राचीन मूलभूत जैन-साहित्य प्राकृत में तथा आधारभूत प्राचीन बौद्ध-साहित्य एवं उसका उपजीवी साहित्य पालि में उपलब्ध होता है। अतः भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के यथेष्ट ज्ञान के लिए संस्कृत तथा प्राकृत के समान पालि भाषा का ज्ञान भी अपेक्षित है।

पालि-साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि उसके कारण ही भारत के इतिहास का प्रारम्भ होता है। यदि पालि-साहित्य की अनदेखी कर दी जाय तो ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसा तक के ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालनेवाला कोई साहित्य ही न रहे। इसके अतिरिक्त यही (पालि) साहित्य भगवान् बुद्ध, उनके प्रवर्तित धर्म एवं संस्थापित संघ की प्रामाणिक जानकारी देता है। अतः पालि भाषा और साहित्य का प्रत्येक दृष्टि से महत्त्व है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ पालि-साहित्य का उद्भव एवं विकास की संक्षिप्त रूपरेखा, पालि भाषा की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, पालि भाषा का उद्गम-स्थल तथा पालि-साहित्य के वर्गीकरण को प्रस्तुत किया जा रहा है।

पालि-साहित्य का उद्भव एवं विकास

भगवान् बुद्ध ने बोधि-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण पर्यन्त प्राणियों को जो उपदेश दिये, वे पालि-साहित्य के मूलाधार हैं। उन्होंने सिद्धार्थ कुमार के रूप में २९ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग किया तथा ६ वर्ष की तपस्या के बाद बुद्धत्व प्राप्त किया। उनका महापरिनिर्वाण अस्सी वर्ष की आयु में हुआ। इस प्रकार ४५ वर्षों में भगवान् बुद्ध ने जहाँ-कहीं जिस किसीके साथ जो कुछ कहा, उसे 'तिपिटक' के रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया और आज यही 'तिपिटक' पालि-साहित्य का मूलस्रोत है।

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश बोलचाल की भाषा में दिये थे। उनके उपदेशों में आडम्बर नहीं था। वे भाषा एवं शैली—दोनों ही दृष्टियों से इतने सरल, स्वाभाविक एवं आकर्षक होते थे कि उन्हें साधारण नर-नारी से लेकर विशिष्ट व्यक्ति तक सभी

सरलता से समझ लेते थे। बुद्ध की इच्छा थी कि उनके अनुयायी उन उपदेशों को सुविधानुसार अपनी-अपनी भाषा में सीखें। वे यह कदापि नहीं चाहते थे कि उनके उपदेशों को उस समय की श्रेष्ठ एवं पवित्र मानी जानेवाली संस्कृत भाषा में परिवर्तित कर उन्हें भाषागत श्रेष्ठता का जामा पहनाया जाय।

भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक ही होते थे। उनके स्मृतिमान् एवं बहुश्रुत शिष्य उन उपदेशों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। जब कभी भिक्षुओं को एक-साथ मिलने का अवसर प्राप्त होता था, वे आपस में चर्चा कर किसी विषय में सन्देह होने पर उसे मिटा लेते थे। अगर कोई विशेष उलझन होती थी तो वे बुद्ध के पास जाकर उसका निराकरण कर लेते थे।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद मौखिक परम्परा में विद्यमान उनके उपदेशों को सुरक्षित एवं चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त सतर्कता अपनायी गयी। बुद्ध के परिनिर्वाण के तत्काल बाद बड़े-बड़े स्थविर भिक्षुओं की एक संगीति बुलाने का निश्चय किया गया। यह संगीति राजगृह में हुई। इसके सौ वर्ष बाद इसी तरह की दूसरी तथा राजा अशोक के समय तीसरी संगीति का आयोजन किया गया। इन तीनों संगीतियों में 'तिपिटक' का संकलन एवं संगायन किया गया। तीसरी संगीति के बाद अन्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए बौद्ध भिक्षुओं को भेजने का भी निश्चय किया गया। इसी निर्णय के अनुसार राजा अशोक के पुत्र महेन्द्र को लंका-द्वीप में भेजा गया। वहाँ उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। लंकाद्वीप में स्थविर महेन्द्र द्वारा ले जाये गये बुद्ध-वचनों (तिपिटक) को वर्षों तक मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखा गया। बाद में ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में लंका के तत्कालीन राजा वट्टगामणि अभय ने उन उपदेशों को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से लिपिबद्ध करा दिया। सुत्त, विनय एवं अभिधम्म के रूप में विद्यमान तिपिटक को पढ़ाते समय परम्परा के अनुसार जो व्याख्या की जाती थी, उसे भी सिंहली अट्ठकथाओं के रूप में लिपिबद्ध कर लिया गया।

भारत में भी बुद्ध-वचनों के संकलन एवं संगायन के पश्चात् बौद्ध भिक्षुओं ने उन पर व्याख्यापरक साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु जब बौद्ध धर्म के ही कुछ सम्प्रदायों द्वारा थेरवाद के समर्थक बौद्ध भिक्षुओं को भारत से बाहर जाने के लिए विवश कर दिया गया तो वे लंका के विहारों में जा बसे। फलतः लंका के विहार थेरवादियों के प्रमुख गढ़ बन गये। पालि-साहित्य में यही लोग 'पोराणा' शब्द से अभिहित किये जाते हैं। कालान्तर में लंका के राजा पराक्रमबाहु (प्रथम) तथा पराक्रमबाहु (द्वितीय) की प्रेरणा से पालि भाषा में व्याकरण, अलंकार, छन्दःशास्त्र, कोश आदि के भी ग्रन्थ लिखे गये।

इस प्रकार पालि-साहित्य की धारा, जिसका उद्गम भगवान् बुद्ध के उपदेशों से हुआ था, आज तक अविच्छिन्न रूप से बहती चली आ रही है। भारत से स्थविरवादियों के चले जाने के बाद अधिकांश पालि-ग्रन्थों का लेखन लंका में तथा कुछ का बरमा में हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैसे-जैसे पालि-साहित्य की धारा आगे बढ़ी वैसे-वैसे वह संस्कृत की धारा के समीप आती गयी। यही कारण है कि १२वीं शताब्दी से आज तक के पालि-साहित्य के ग्रन्थों पर भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों का बढ़ता हुआ प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पालि-साहित्य के उद्भव एवं विकास के उक्त संक्षिप्त विवरण का विस्तार से विवेचन अगले अध्यायों में किया जायगा।

पालि : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं, उनमें भिक्षु जगदीश काश्यप, पं० विधुशेखर भट्टाचार्य और भिक्षु सिद्धार्थ के मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने पालि शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए उसकी उत्पत्ति "परियाय' शब्द से मानी है। उनके मतानुसार पालि शब्द बुद्ध के उपदेशों के अर्थ में प्रयुक्त 'परियाय' शब्द का ही परिवर्तित रूप है। 'परियाय' शब्द का प्रयोग पालि तिपिटक में बुद्ध-उपदेशों के अर्थ में उपलब्ध होता है। यही शब्द इसी अर्थ में अशोक के शिलालेखों में 'पलियाय' शब्द के रूप में दृष्टिगोचर होता है। उपसर्ग के प्रथम स्वर में दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के कारण 'पलियाय' शब्द कालान्तर में 'पालियाय' बना। पालि शब्द इसी 'पालियाय' शब्द का संक्षिप्त रूप है। अतः इस मत को संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

परियाय (बुद्ध-उपदेश) > पलियाय > पालियाय > पालि।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार पालि शब्द का अर्थ बुद्ध-उपदेश है। इस अर्थ की पुष्टि तिपिटक ग्रन्थों के साथ प्रयुक्त पालि शब्द से होती है, जैसे—दीघनिकायपालि, मज्झिमनिकायपालि आदि। भाष्यात्मक एवं इतर पालि-ग्रन्थों में भी पालि शब्द मूल बुद्ध-उपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ और बुद्ध के उपदेशों की भाषा को पालि भाषा कहा जाने लगा। कालान्तर में पालि भाषा ही अपने लघु रूप पालि शब्द से व्यवहृत होने लगी।

इस विषय में दूसरा उल्लेखनीय मत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार पालि शब्द का उद्भव पङ्क्ति शब्द से हुआ है। यही पङ्क्ति शब्द क्रमशः पन्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि के रूपों में परिवर्तित होता हुआ पालि बन गया। इस व्युत्पत्ति

के अनुसार पालि शब्द का अर्थ मूल ग्रन्थ की पङ्क्ति होता है। पालि भाषा के कोश-ग्रन्थ 'अभिधानप्पदीपिका' से भी इस मत की पुष्टि होती है। उक्त कोश-ग्रन्थ में पालि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है—'पा पालेति रक्खतीति पालि' अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है वह पालि है।

उपर्युक्त व्युपत्ति के सन्दर्भ में भिक्षु जगदीश काश्यप का कहना है कि पङ्क्ति के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है, जब कि बुद्ध-वचन तिपिटक के रूप में संकलित होने के बाद भी ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी तक मौखिक परम्परा में ही थे। इसके अतिरिक्त पालि-साहित्य में कहीं भी पालि शब्द ग्रन्थ की पङ्क्ति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यदि पालि का अर्थ पङ्क्ति किया जाय तो दीघनिकायपालि, मज्झिम-निकायपालि आदि मूलग्रन्थों के अन्त में जुड़ा हुआ पालि शब्द गतार्थ नहीं होगा। इसी प्रकार यदि पालि शब्द का अर्थ पङ्क्ति से लें तो उसका बहुवचनान्त रूप भी मिलना चाहिए किन्तु सर्वत्र एकवचनान्त रूप ही उपलब्ध होता है।

भिक्षु जगदीश काश्यप की उपर्युक्त आपत्तियों के बावजूद पं० भट्टाचार्य का मत 'अभिधानप्पदीपिका' से पुष्ट होता है। 'पङ्क्तिबद्ध हो जाने से बुद्ध-वचन अधिक सुरक्षित हो गये'—इस आशय को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः यह व्युत्पत्ति की गयी है। अतः इसे भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में तीसरा मत भिक्षु सिद्धार्थ का है। उनके मतानुसार पालि शब्द संस्कृत के पाठ शब्द का परिवर्तित रूप है। अपने मत के समर्थन में उनका कथन है कि जब बुद्ध के धर्म में ब्राह्मणों ने प्रवेश किया तो उन्होंने वेद-पाठ की भाँति बुद्ध-वचनों की आवृत्ति के लिए पाठ का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। यही पाठ शब्द कालान्तर में पाळ > पाळि > पालि बन गया। भिक्षु सिद्धार्थ ने अनेक उदाहरणों की सहायता से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाठ > पाळ > पाळि > पालि—यह परिवर्तन का क्रम भाषा-विज्ञान के नियमों के सर्वथा अनुरूप है। इस मत में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसकी सिद्धि के लिए कोई ऐति-हासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त पालि-साहित्य में पालि शब्द के प्रयोग के साथ-साथ पाठ शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अतः भाषा-विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने पर भी यह मत मान्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं—पल्लि (गाँव की भाषा) > पालि; प्राकृत (बोलचाल की पुरानी बोली) > पाकट > पाअड > पाअल > पालि; प्रालेयक (पड़ोसी) > पालि; प्रकट (स्पष्ट) > पाअड > पाअल > पालि; पाटलि (पाटलिपुत्र की भाषा) > पालि आदि। इन व्युत्पत्तियों

के पक्ष में भी कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये हैं, अतः इन्हें भी निर्विवाद रूप से मान्य नहीं किया जा सकता है।

इन सभी व्युत्पत्तियों में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्ति एवं तज्जन्य अर्थ ही न केवल भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुकूल है, अपितु ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी समर्थित है। अतः अधिकांश विद्वान् उसी व्युत्पत्ति को मानते हैं।

पालि भाषा का मूल प्रदेश

पालि भाषा के सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि पालि बोलचाल की भाषा थी तो वह किस प्रदेश में बोली जाती थी ?

इस विषय में आज तक जितने मत व्यक्त किये गये हैं, उन्हें स्थूल रूप से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले विभाग में ऐसे मतों को रखा जा सकता है, जिनमें पालि भाषा को किसी प्रदेश विशेष की बोलचाल की बोली सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। दूसरे विभाग में उन सभी मतों का समावेश किया जा सकता है जो बुद्ध-वचनों की भाषा को अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी मागधीमूलक विशुद्ध साहित्यिक भाषा बतलाते हैं। अन्तिम विभाग में उन मतों की गणना की जा सकती है, जो बुद्ध-वचन की भाषा को किसी अन्य भारतीय भाषा का अनुवाद मात्र मानते हैं।

प्रथम विभाग में जितने भी मत हैं वे सभी एक-दूसरे से भिन्न हैं तथा अलग-अलग प्रान्त को भाषा मानते हैं। उदाहरणार्थ--रीज डेविड्स के मतानुसार पालि कोशल प्रदेश की भाषा थी। कारण, भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे और कोशल प्रदेश की भाषा उनकी मातृभाषा थी तथा उनके परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर बुद्ध-उपदेशों का संग्रह कोशल प्रदेश में ही प्रधान रूप से हुआ था। वैस्टर गार्ड तथा ई० कुह्न इसे उज्जयिनी की भाषा मानते हैं। कारण, एक तो पालि अशोक के गिरनार-शिलालेखों से समानता रखती है और दूसरे यह महेन्द्र की मातृभाषा थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महेन्द्र ही धर्म-प्रचार के लिए लंका जाते समय मौखिक परम्परा में विद्यमान तिपिटक अपने साथ ले गये थे। आर० ओ० फ्रैंक तथा स्टेन कोनो पालि का उद्गम-स्थल विन्ध्यप्रदेश को मानते हैं। कारण, एक तो पालि का गिरनार-शिलालेखों से अधिक साम्य है और दूसरा यह कि विन्ध्यप्रदेश के आसपास बोली जानेवाली पैशाची प्राकृत से इसका साम्य है। डॉ० ओल्डनवर्ग तथा ई० मूलर पालि को कलिंग की भाषा बताते हैं। कारण, एक तो यह कि पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही बौद्ध-धर्म लंका पहुँचा और दूसरा यह कि पालि खंडगिरि के शिलालेख से मिलती है।

इस प्रकार पालि को किसी प्रदेशविशेष की बोली सिद्ध करनेवाले सभी विद्वानों ने अपने-अपने मत की सिद्धि के लिए जो अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किये हैं वे किसी न किसी दृष्टि से सत्य भी हैं।

द्वितीय विभाग में जिन विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विन्टरनित्ज, ग्रियर्सन, गायगर आदि प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो विद्वानों ने पालि का मौलिक रूप मागधी भाषा को बतलाया है। विन्टरनित्ज के अनुसार पालि एक ऐसी भाषा है, जो अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी है। इनमें प्राचीन मागधी प्रमुख थी। ग्रियर्सन ने पालि का मूल विशुद्ध मागधी को न मानकर पश्चिमी बोली को माना है। गायगर पालि को मागधी भाषा का वह रूप मानते हैं, जो सभ्य व्यक्तियों द्वारा बोलचाल में प्रयुक्त होता था। इस विभाग में रखे जानेवाले मतों को सरसरी दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि पालि जनसाधारण के बोलचाल की बोली नहीं थी, अपितु वह एक साहित्यिक भाषा अथवा शिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त भाषा थी।

अन्तिम विभाग में लूडर्स, सिलवाँ लेवी आदि के मत प्रमुख हैं। लूडर्स के मतानुसार पालि तिपिटक पहले अर्धमागधी प्राकृत में था। बाद में उसका अनुवाद वर्तमान पालि में कर दिया गया। सिलवाँ लेवी के मतानुसार पालि तिपिटक पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनूदित रूप है।

उक्त तीन विभागों में से प्रथम विभाग के मत अंशतः सत्य होते हुए भी ग्राह्य नहीं हैं। कारण, यदि पालि वास्तव में किसी प्रदेशविशेष के बोलचाल की भाषा होती तो यह भाषा केवल बौद्धों के थेरवाद-सम्प्रदाय तक ही क्यों सीमित होकर रह गयी, पालि तिपिटक में एकरूपता क्यों है तथा वह विशिष्ट नाम से अभिहित क्यों नहीं हुई, इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधान प्राप्त नहीं होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पालि तिपिटक में प्रत्येक व्यक्ति के कथन में पालि भाषा का ही प्रयोग किया गया है, जब कि ब्राह्मण-वर्ग संस्कृत का, स्त्री एवं बालक प्राकृत का तथा हीन-वर्ग के लोग मागधी आदि का प्रयोग करते थे। स्थान-भेद से भी बोलचाल की बोली में भिन्नता आ जाती है, जब कि वाराणसी, राजगृह, बोधगया, कपिलवस्तु आदि स्थानों के सामान्य जनों का जिस भाषा में बुद्ध से सम्भाषण करते दिखाया गया है, उसमें भी एकरूपता है। साथ ही जिस भाषा को आज पालि शब्द से कहा जाता है, वह उसका प्राचीन नाम नहीं है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए तिपिटक की भाषा को किसी प्रदेशविशेष की बोली नहीं कहा जा सकता है। जो बोलचाल की भाषा होती है वह न तो किसी सम्प्रदायविशेष की होती है, न सर्वत्र एक रूप में रहती है और न

ही संज्ञाविहीन होती है। यही कारण है कि पालि को प्रदेशविशेष के बोलचाल की भाषा बतानेवाले विद्वानों में स्थान-निर्धारण के प्रश्न को लेकर गम्भीर मतभेद है।

द्वितीय एवं तृतीय विभाग के मत पालि को बोलचाल की बोली नहीं मानते हैं। द्वितीय विभाग के मतों में पालि को सामान्यतया साहित्यिक अथवा वर्गविशेष की भाषा माना गया है जब कि तीसरे विभाग के मतों में पालि तिपिटक की भाषा के मूल को खोजने का प्रयास किया गया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब भगवान् बुद्ध ने बोलचाल की बोली में ही उपदेश दिये थे और अपने अनुयायी भिक्षुओं को अपनी-अपनी भाषा में उन उपदेशों को सीखने की अनुमति दी थी तो वे उपदेश पालि में कैसे परिवर्तित हो गये? बुद्ध-कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही इसका समाधान खोजा जा सकता है।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद जब भगवान् ने सोचा कि सबसे पहले इस गम्भीर धर्म का उपदेश किसे दें तो उनका ध्यान आलार कालाम पर गया। चूंकि आलार कालाम दिवंगत हो गया था, अतः उन्होंने उद्दक रामपुत्त को उपदेश देना चाहा, किन्तु उसके भी दिवंगत होने की बात जानकर उन्होंने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को प्रथम धर्मोपदेश देने का निश्चय किया एवं इसके लिए वे बोधगया से वाराणसी आये थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये सभी ब्राह्मण थे। इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय किसी ब्राह्मण को ही शिष्य बनाने पर धर्म का प्रचार-प्रसार सम्भव था। बुद्ध ने भी वही किया। पञ्च-वर्गीय भिक्षुओं को प्रथम धर्मोपदेश देने के बाद वेदों के ज्ञाता अन्य ब्राह्मण भी उनके शिष्य बने। कुछ ही समय में बुद्ध के संघ में ब्राह्मणों का बाहुल्य हो गया। तब कुछ ब्राह्मण-जाति से प्रव्रज्या लेनेवाले बौद्ध भिक्षुओं ने यह चाहा कि भगवान् बुद्ध के उपदेशों को वैदिक छन्दों में परिवर्तित कर दिया जाय, जिससे नाना प्रदेशों से आकर भिक्षु बने लोग उन उपदेशों को दूषित न कर सकें। भगवान् बुद्ध ने ऐसा करने से मना कर दिया और भिक्षुओं को अपनी-अपनी भाषा में उपदेश सीखने की प्रक्रिया को जारी रखने का आदेश दिया।

फिर भी बुद्ध के धर्म में ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ता ही गया। वैदिक धर्म के चार आश्रम की तरह बुद्ध के धर्म में गृहपति, श्रामणेर, भिक्षु और आरण्यक—ये चार परिषदें बन गयीं। ब्राह्मण-धर्म के अनुसार तापसों को वैखानस कहा जाता था। बुद्ध के संघ में भी कुछ भिक्षुओं ने वैखानसों के नियमों का पालन करना प्रारम्भ कर दिया। इन नियमों को धुतङ्ग की संज्ञा दी गयी। यद्यपि विनय में इन धुतङ्गों का कोई उल्लेख नहीं है तथा परिवार नामक विनयग्रन्थ में इनकी निन्दा की गयी है, किन्तु बाद में इनका प्रभाव बढ़ने लगा और अभिधम्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में इनकी प्रशंसा की गयी है।

भगवान् बुद्ध के बाद उनके संघ की स्थिति कुछ और बदल गयी। धुतङ्ग समर्थक महाकाश्यप संघ के प्रमुख बन गये। २५ वर्षों से बुद्ध की परिचर्या करनेवाले एवं स्वयं बुद्ध द्वारा बहुश्रुत, धर्मधर आदि उपनामों से प्रशंसित आनन्द को प्रथम संगीति में भाग लेनेवाले भिक्षुओं की सूची में नहीं रखा गया। उन (आनन्द) पर आरोप था कि उन्होंने अर्हत्-पद को प्राप्त नहीं किया। पहले संघ का आधिपत्य था, अब संघ-प्रमुख का आधिपत्य हो गया।

इस बदलती परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि बुद्ध के उपदेशों की भाषा को संस्कृतनिष्ठ बनाया गया होगा। इस बात की सम्भावना उस समय और अधिक हो जाती है जब संघ का प्रमुख वैदिक आचार-विचार से प्रभावित हो। अतः प्रथम संगीति के अवसर पर बुद्ध के उपदेशों की भाषा में भी पर्याप्त परिवर्तन किये गये होंगे, इसकी संभावना है। चूंकि भिक्षुगण बुद्ध के उपदेश अपनी-अपनी भाषा में सीखते थे, अतः उन उपदेशों में भाषागत विविधता होना स्वाभाविक था। इस विविधता के स्थान पर एकरूपता लाने के प्रयास में ही बुद्ध-उपदेशों की भाषा ने एक ऐसा विचित्र रूप धारण कर लिया, जिसे स्पष्ट रूप से संस्कृत एवं प्राकृत के बीच का रूप कह सकते हैं अर्थात् कहीं संस्कृत की विशेषता ले ली गयी है तो कहीं उन्हें तत्कालीन बोलचाल की भाषा में ही रहने दिया गया है। प्रथम धर्मसंगीति में थेरवादियों द्वारा निर्मित होने से यह भाषा केवल थेरवादियों की ही भाषा बनकर रह गयी। सारांश यह कि पालि भाषा कभी भी किसी प्रदेशविशेष में बोलचाल की भाषा नहीं रही, अपितु यह एक ऐसी कृत्रिम साहित्यिक भाषा है जो अनेक बोलचाल की भाषाओं के मिश्रण को संस्कृतभाषानुगामी रूप देने से बनी है, किन्तु इस मिश्रण में मागधी भाषा प्रमुख थी।

पालि भाषा का विकासक्रम

विकासक्रम की दृष्टि से पालि भाषा को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१. तिपिटक में आनेवाली गाथाओं की भाषा—जिस प्रकार वैदिक भाषा में अनेकरूपता पायी जाती है, उसी प्रकार गाथाओं की भाषा में भी अनेकरूपता पायी जाती है। इसमें वैदिक भाषा के कुछ प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। इस भाषा का रूप सुत्तनिपात की गाथाओं में देखा जा सकता है।

२. तिपिटक के गद्य भाग की भाषा—इसमें न तो गाथाओं की भाषा के समान अनेकरूपता है और न ही वैदिक शब्दों का प्रयोग। यद्यपि इस अवस्था की भाषा में भी प्राचीन शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर हो जाता है, किन्तु वह बहुत कम है।

३. तिपिटकोत्तर पालि गद्य-साहित्य की भाषा—इसमें भाषा के प्राचीन रूपों के प्रयोग समाप्तप्राय हो चुके थे। अतः प्राचीन रूपों का अभाव एवं नये रूपों में वृद्धि इस भाषा की विशेषता है। कहीं-कहीं इसमें कृत्रिमता एवं आलंकारिकता का भी आभास होता है। फिर भी यह दूसरी अवस्था की पालिभाषा से बहुत कम भिन्नता रखती है।

४. पालि काव्य-साहित्य की भाषा—इसमें संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं भाषा अत्यन्त कृत्रिम एवं क्लिष्ट प्रतीत होती है। चूंकि पालि में काव्य-साहित्य का लेखन संस्कृत-साहित्य से प्रभावित होकर किया गया है। अतः काव्यों की भाषा जीवन्त पालि की अपेक्षा अशुद्ध संस्कृत जैसी प्रतीत होती है।

पालि-साहित्य की रूपरेखा

आगे के अध्यायों में पालि-साहित्य का विवेचन जिस क्रम से किया गया है, उसे ध्यान में रखकर पालि-साहित्य को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. तिपिटक-साहित्य

(क) **सुत्तपिटक**—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दकनिकाय के पन्द्रह ग्रन्थ—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक।

(ख) **विनयपिटक**—पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग एवं परिवार।

(ग) **अभिधम्मपिटक**—धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक, पट्ठान।

२. अनुपिटक साहित्य—नेत्तिप्पकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह।

३. अट्ठकथा एवं टीका-साहित्य—समन्तपासादिका (विनय), कङ्खावितरणी (पातिमोक्ख), सुमङ्गलविलासिनी (दीघनिकाय), पपञ्चसूदनी (मज्झिमनिकाय), सारत्थप्पकासिनी (संयुत्तनिकाय), मनोरथपूरणी (अंगुत्तरनिकाय), परमत्थजोतिका (खुद्दकपाठ एवं सुत्तनिपात) आदि, सारत्थदीपनी, सारत्थमंजूसा, अभिधम्मावतार टीका, सुमंगलप्पसादिनी, अभिधम्मत्थविभाविनी आदि।

४. वंस-साहित्य—दीपवंस, महावंस, अनागतवंस, गन्धवंस आदि।

५. काव्य-साहित्य—जिनचरित, जिनालंकार, पज्जमधु, तेलकटाहगाथा, रसवाहिनी, लोकनीति आदि ।

६. व्याकरण, छन्दःशास्त्र, कोश आदि—

(क) व्याकरण—कच्चायनव्याकरण, मोग्गल्लानव्याकरण, रूपसिद्धि, सद्दनीति आदि ।

(ख) छन्दःशास्त्र—वुत्तोदय ।

(ग) अलंकारशास्त्र—सुबोधालंकार ।

(घ) कोश—अभिधानप्पदीपिका, एकक्खरकोस, सद्दत्थरतनावली ।

दूसरा अध्याय

तिपिटक (त्रिपिटक)

तिपिटक का अर्थ है—तीन पिटकों का समूह। इन तीन पिटकों के नाम हैं—सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक में वार्तालाप के माध्यम से दिये गये बुद्धोपदेश संकलित हैं, विनयपिटक में भिक्षुओं के निमित्त बनाये गये नियम-उपनियम हैं तथा अभिधम्मपिटक में पारिभाषिक शब्दों में बुद्ध का दर्शन है। यही तिपिटक मौखिक रूप से वर्षों तक प्रवाहित बुद्ध-वचनों का प्रामाणिक संग्रह माना गया है। पिटक शब्द का शाब्दिक अर्थ पिटारी होता है किन्तु प्रारम्भिक समय में बुद्धोपदेश मौखिक रूप में थे, अतः यहाँ पिटक शब्द से उसका लाक्षणिक अर्थ परम्परा लेना चाहिये।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मौखिक रूप में विद्यमान बुद्ध के उपदेश सुदीर्घ परम्परा से प्रवाहित होते हुए ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में लंका में लिपिबद्ध किये गये थे। अतः तीन पिटकों का अलग-अलग विवेचन करने के पूर्व यहाँ तिपिटक से सम्बद्ध कुछ मूलभूत प्रश्नों का समाधान आवश्यक है। उदाहरणार्थ—लिपिबद्ध होने तक तिपिटक को किन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा? तिपिटक को कहाँ तक बुद्ध-वचन कहा जा सकता है? तिपिटक में समाविष्ट विषयवस्तु का कालक्रम क्या है? आदि। इन प्रश्नों के समाधान हेतु तिपिटक के सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना अपेक्षित है—

१. संकलन : एक सुदीर्घ परम्परा

२. प्रामाणिकता

३. विभाजन एवं कालानुक्रम

४. महत्त्व

१. संकलन : एक सुदीर्घ परम्परा

बुद्धत्व-प्राप्ति से महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों एवं अन्य व्यक्तियों को यत्र-तत्र धर्मसम्बन्धी उपदेश दिये थे तथा अपने ही द्वारा स्थापित संघ की सुव्यवस्था हेतु समय-समय पर आवश्यकतानुसार नियमोपनियमों का विधान किया था।

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में उनके समस्त उपदेश मौखिक ही थे। जहाँ जो जिस उपदेश को सुनता था, कण्ठस्थ कर लिया करता था। यदि किसीको कहीं

कोई शंका होती थी तो वह भगवान् बुद्ध के पास जाकर उसका समाधान कर लेता था। इन उपदेशों में धर्म एवं विनय के अतिरिक्त प्रसंगवश यत्र-तत्र भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व की जीवनी, साधना, बुद्धत्व-प्राप्ति, भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य नर-नारियों को दिये गये उपदेश आदि विभिन्न विषयों से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण सामग्री स्वतः समाविष्ट हो जाया करती थी, और उसे भी भिक्षुगण उपदेशों के साथ-साथ कण्ठस्थ कर लिया करते थे।

प्रथम प्रयास : भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश न तो किसी एक व्यक्तिविशेष को दिये थे और न ही किसी एक स्थानविशेष पर। विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को दिये गये ये उपदेश बुद्ध के जीवन-काल में बिखरे हुए थे। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने भिक्षुओं को साहस बँधाते हुए कहा था कि मेरे परिनिर्वाण के बाद यह मत समझना कि मेरे शास्ता नहीं हैं, मैंने जो धर्म एवं विनय-सम्बन्धी उपदेश दिये हैं; मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके उपदेशों के संग्रह की आवश्यकता का अनुभव किया गया। सुभद्र भिक्षु के इस कथन से कि "आयुष्मान्, आप शोक न करें, रोदन न करें, हम लोग महाश्रमण से मुक्त हो गये, अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो नहीं चाहेंगे नहीं करेंगे" बुद्धोपदेशों के संग्रह की आवश्यकता के अनुभव को बल मिला। परिणामस्वरूप तत्कालीन संघप्रमुख स्थविर महाकाश्यप ने वर्षावास के समय भगवान् बुद्ध के धर्म और विनय का संगायन करने की घोषणा करते हुए इसके लिए पाँच सौ अर्हद् भिक्षुओं को वर्षावास के पूर्व राजगृह पहुँचने का निर्देश दिया।

निर्धारित समय पर राजगृह में स्थविर महाकाश्यप की अध्यक्षता में संगीति प्रारम्भ हुई। इसमें पाँच सौ अर्हद् भिक्षुओं ने भाग लिया। यह सात माह तक चली तथा इसमें धर्म एवं विनय-सम्बन्धी बुद्ध के उपदेशों का संकलन एवं संगायन किया गया। बौद्ध-धर्म के इतिहास में यह संगीति प्रथम धर्म-संगीति के नाम से विख्यात हुई। चूँकि इसमें पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया था, अतः इसे 'पञ्चसतिका' भी कहा जाता है।

प्रथम धर्म-संगीति में संकलित बुद्ध-वचनों को चिरस्थायी बनाने के लिए भिक्षुओं ने सुनियोजित ढंग से कार्य किया। संगीति में स्वीकृत एवं संकलित बुद्ध-वचनों को छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त कर उन्हें मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखने का भार पृथक्-पृथक् भिक्षुसंघों को सौंप दिया गया। विभिन्न भिक्षुसंघ भी अपने हिस्से में आये धर्म एवं विनय के अंशों का पाठ करने लगे, जिससे उस भिक्षुसंघ को उस अंशविशेष का भाणक कहा जाने लगा। इस प्रकार प्रथम संगीति के अनन्तर भाणक-परम्परा से प्रवाहित बुद्ध-वचनों की सुरक्षा होती रही।

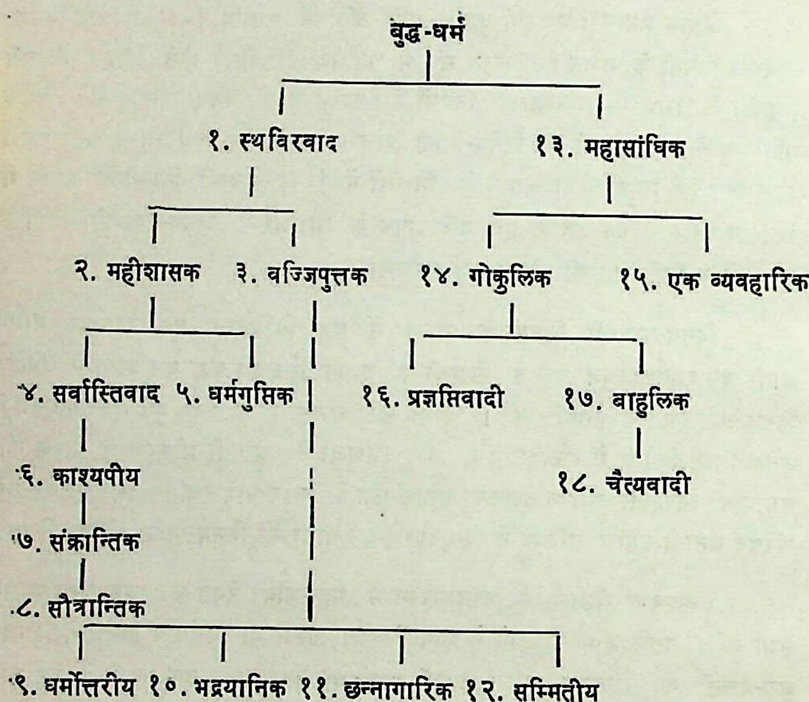
द्वितीय प्रयास : भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद विनय-सम्बन्धी नियमों के पालन को लेकर संघ में मतभेद दृष्टिगोचर होने लगा। वैशाली (पूर्व) के भिक्षु विनय-सम्बन्धी नियमों के पालन में शिथिलता दिखाने लगे। इसके अतिरिक्त वे उपासकों को भी विनय-विरुद्ध आचरण करने के लिए प्रेरित करने लगे। इसके विपरीत मथुरा (पश्चिम) के भिक्षुओं में विनय-सम्बन्धी नियमों के पालन में कठोरता थी। लेकिन अवन्ति एवं दक्षिणापथ के भिक्षुओं में विनय-सम्बन्धी नियमों के पालन में न शिथिलता थी और न ही कठोरता।

विनय-सम्बन्धी नियमों के पालन में यह विभिन्नता तब उभरकर सामने आयी जब काकण्डकपुत्र यश ने वैशाली के वज्जी भिक्षुओं की दस बातों में विनय-विरुद्ध आचरण पर आपत्ति की। विवाद को सुलझाने के लिए पूर्व एवं पश्चिम के अनेक भिक्षु वैशाली में एकत्रित हुए, किन्तु भिक्षुओं के आपसी शोरगुल के कारण कोई समाधान निकलता हुआ न देखकर प्रत्येक पक्ष के चार-चार स्थविर भिक्षुओं की एक परिषद् बनायी गयी। परिषद् ने विवादग्रस्त दस बातों को विनय-विरुद्ध घोषित किया।

तत्पश्चात् वैशाली के वालुकाराम में महास्थविर रेवत की अध्यक्षता में एक सभा हुई। इसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। इसमें भी धर्म एवं विनय से सम्बद्ध बुद्ध-वचनों का संगायन हुआ। इसकी कार्यवाही आठ माह तक चली। यह सभा बौद्ध धर्म के इतिहास में द्वितीय धर्म-संगीति के नाम से विख्यात हुई। सात सौ भिक्षुओं के सम्मिलित होने से इसे 'सप्तसतिका' भी कहा जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रथम संगीति में धर्म एवं विनय-सम्बन्धी जितने बुद्धोपदेशों का संकलन किया गया था, द्वितीय संगीति के संकलन के समय उनमें कुछ वृद्धि हुई। कारण, प्रथम संगीति में जिन बुद्धोपदेशों को किसी कारण से संकलित नहीं किया जा सका था, किन्तु जो शिष्य-परम्परा से सुरक्षित थे, उन्हें भी द्वितीय संगीति के अवसर पर स्वीकार कर लिया गया।

अठारह निकाय : वैशाली के भिक्षुओं की दस बातों को नियम-विरुद्ध घोषित होने पर उन्होंने स्थविरवाद से पृथक् महासंघ बनाया और वे लोग महासांघिक कहलाने लगे। कालान्तर में स्थविरवाद एवं महासांघिक से अन्य निकायों की उत्पत्ति हुई। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २२८ वर्ष बाद सम्राट् अशोक के समय तक बौद्ध भिक्षु-संघ अठारह निकायों में विभक्त हो गया। इनमें १२ स्थविरवादी परम्परा तथा ६ महासांघिक परम्परा से सम्बद्ध थे। इन अठारह निकायों में स्थविरवाद एक ऐसा निकाय था जो सबसे प्राचीन था तथा इसके अनुयायी भिक्षु बुद्ध-वचनों को मौखिक परम्परा से सुरक्षित रख रहे थे। अठारह निकायों का विवरण इस प्रकार है—



तृतीय प्रयास : राजा अशोक ने कलिंग-युद्ध के बाद बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था तथा स्थविरवादी परम्परा के भिक्षुओं को प्रश्रय देना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रश्रय से आकृष्ट होकर अन्यमतावलम्बी साधु बौद्ध स्थविरवादी संघ में घुस गये और अपने-अपने मत को बुद्ध का मत बतलाने लगे। इससे संघ में अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो गया। वास्तविक भिक्षुओं ने इससे क्षुब्ध होकर उपोसथ (पातिमोक्ख का पाठ) करना बन्द कर दिया। राजा अशोक ने संघ में पुनः उपोसथ प्रारम्भ कराने के लिए तत्कालीन महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की सहायता से संघ से साठ हजार पाखंडियों को निकाल दिया। तत्पश्चात् मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र (पटना) में तृतीय धर्म-संगीति का आयोजन किया गया। इसमें एक हजार भिक्षुओं ने भाग लिया तथा इसकी कार्यवाही नौ मास में समाप्त हुई।

इस संगीति का बौद्ध धर्म के इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन कारणों में कुछ इस प्रकार हैं—

(क) इस संगीति में पहली बार 'धम्म' को सुत्त एवं अभिधम्म—इन दो भागों में विभक्त कर बुद्ध-वचनों का सुत्त, विनय एवं अभिधम्म के रूप में संकलन एवं संगायन किया गया।

(ख) इसमें मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा विरचित 'कथावत्थुप्पकरण' नामक ग्रन्थ को अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों में सम्मिलित कर उसे तिपिटक के अन्य ग्रन्थों के समान सम्मान प्रदान किया गया। इस ग्रन्थ में तत्कालीन धार्मिक समाज में प्रचलित २५२ मिथ्यामतों का खण्डन कर स्थविरवाद का शुद्ध स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

(ग) इस संगीति में तिपिटक को जो कि प्रथम और द्वितीय धर्म-संगीतियों में क्रमशः विकसित होता रहा है, औपचारिक रूप से अन्तिम रूप प्रदान किया गया।

(घ) इसमें तिपिटक के संकलन एवं संगायन के अनन्तर बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए भिक्षुओं को पड़ोसी देशों में भेजने का महत्त्वपूर्ण निर्णय किया गया। इसी निर्णय के अनुसार राजा अशोक के पुत्र महेन्द्र को तृतीय धर्म-संगीति में अनुमोदित तिपिटक के साथ लंका द्वीप भेजा गया।

चतुर्थ प्रयास : तीसरी धर्म-संगीति के दस वर्ष बाद (भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के दो सौ अड़तीस वर्ष बाद) स्थविर महेन्द्र की प्रेरणा से लंका में चतुर्थ धर्म-संगीति का आयोजन किया गया। 'देवानंपियतिस्स' राजा के समय में यह संगीति लंका के थूपाराम विहार में अरिट्ठ (अरिष्ट) स्थविर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इसमें साठ हजार भिक्षुओं ने भाग लिया। भारत में सम्पन्न तीन धर्म-संगीतियों के क्रम से ही इसमें भी तिपिटक का संगायन किया गया।

पञ्चम प्रयास : भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार सौ पचास वर्ष बाद तक तिपिटक के रूप में संकलित बुद्ध-वचन मौखिक परम्परा में ही सुरक्षित रहे। उसके बाद लंका के राजा वट्टगामणि अभय के समय (ई० पू० २९ वर्ष के लगभग) स्थविरों को यह आशंका हुई कि मौखिक परम्परा से अब बुद्ध-वचनों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, अतः उन्हें लिपिबद्ध कर लेना आवश्यक है।

स्थविरों ने अपनी इस आशंका को राजा वट्टगामणि अभय के सामने व्यक्त किया। फलस्वरूप राजा ने लेखन-कार्य की सारी व्यवस्था करवा दी। तब भिक्षुओं ने पूर्व संगीतियों के क्रम से तिपिटक का संगायन कर उसे लिपिबद्ध कर लिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके उपदेशों को भाणक-परम्परा के माध्यम से ४०० वर्ष से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा गया। जब आवश्यक हुआ, संगीतियों का आयोजन किया गया। लिपिबद्ध होने के बाद अन्य देशों में भी ऐसे ही प्रयास हुए। उदाहरणस्वरूप बरमा में सम्राट् मिन्डोन मिन् (१८७१ ई०) के समय एक संगीति का आयोजन किया गया। इसमें सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को संगमरमर की पट्टिकाओं पर उत्कीर्ण कराकर उन्हें एक स्थानविशेष पर जड़वा दिया गया।

२. प्रामाणिकता

तिपिटक की प्रामाणिकता पर विचार करते समय यह देखना होगा कि जिन संगीतियों की चर्चा पहले की गयी है, उन्हें कहाँ तक ऐतिहासिक माना जा सकता है ? पश्चिमी विद्वानों ने प्रथम संगीति के अस्तित्व को या तो एकदम मानने से इन्कार कर दिया है या फिर उसमें उस समस्त कार्यवाही को नहीं माना जो परम्परा से प्राप्त है। अतः प्रथम संगीति के ऐतिहासिक स्वरूप पर गम्भीरता से चिन्तन करना होगा।

महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार बुद्ध ने अपने बाद धर्म और विनय को ही शास्ता मानने की आज्ञा दी थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद भिक्षुसंघ धर्म एवं विनय का स्वरूप निश्चित करे। बुद्ध के समय भिक्षुगण अपने-अपने विहारों में निश्चित बुद्ध-उपदेशों को मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखते थे। फलतः पृथक्-पृथक् विहारों में पृथक्-पृथक् बुद्ध-उपदेश सुरक्षित थे। बुद्ध के बाद भिक्षु संघ का सबसे पहला कार्य यही था कि उन विभिन्न विहारों में बिखरे हुए उपदेशों को एकत्रित किया जाय। यही कार्य प्रथम संगीति में किया गया। राजगृह की सप्तपर्णी गुफा में पाँच सौ वरिष्ठ भिक्षुओं ने मिलकर अपने-अपने विहारों में मौखिक रूप से सुरक्षित बुद्ध-उपदेशों को प्रस्तुत किया और समुचित परीक्षण के बाद उन्हें सामूहिक रूप से बुद्ध-वचन की मान्यता दे दी गयी। इस संगीति में बुद्ध के द्वारा एक से अधिक विहारों में दिये गये एक ही उपदेश को बिना किसी काट-छाँट के मान लिया गया। फलतः ऐसे प्रसंगों में एक ही उपदेश एक से अधिक बार संकलित हो गया और वहाँ केवल सम्बोधित भिक्षु तथा स्थान के नाम की भिन्नता मात्र रह गयी। इसी प्रकार यदि कोई उपदेश एक जगह संक्षेप में और दूसरी जगह विस्तार से दिया गया था, तो संगीति में उसके संक्षिप्त एवं विस्तृत दोनों रूप स्वीकार कर लिये गये। यदि कोई उपदेश एक जगह बुद्ध द्वारा दिया गया था और दूसरी जगह किसी भिक्षु द्वारा, तो उस उपदेश को भी दोनों रूपों में संकलित कर लिया गया। इन्हीं कारणों से कुछ सुत्तों में पुनरुक्ति दृष्टिगोचर होती है तो कुछ सुत्तों में परस्पर में विरोध-सा झलकता है। अतः प्रथम संगीति के समय किये गये संकलन की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पुनरुक्तियों या विरोधपूर्ण प्रतीत होनेवाले प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि प्रथम संगीति हुई ही नहीं अथवा यह कि प्रथम संगीति में धम्म और विनय का संगायन ही नहीं हुआ। अपितु इसके विपरीत यह निष्कर्ष अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि प्रथम संगीति में धम्म एवं विनय के संकलन के समय प्रत्येक भिक्षु ने अपने विहार में सुरक्षित बुद्ध-उपदेश को उसी रूप में संगीति की मान्यता दिलवायी।

प्रथम संगीति के बाद बुद्ध-वचन को सुरक्षित रखने के जो प्रयास हुए हैं, वे सभी विद्वानों को मान्य हैं। इस प्रकार अनेक प्रयासों से सुरक्षित तिपिटक कहाँ तक

बुद्ध-वचन है—यह विचारणीय प्रश्न है। यदि बुद्ध-वचन का अभिप्राय बुद्ध के मुख से कहे गये उपदेशों से लिया जाय, तो निःसन्देह तिपिटक में संकलित समस्त विषय-वस्तु को बुद्ध-वचन नहीं कहा जा सकता है। कारण, उसमें संकलित कुछ ऐसे भी उपदेश हैं जो बुद्ध के किसी शिष्य द्वारा कहे गये हैं। कुछ स्थलों पर बुद्ध-मन्तव्य की व्याख्या है। किन्तु यदि व्यापक दृष्टिकोण से परखा जाय तो तिपिटक में ऐसा एक भी प्रसंग उपलब्ध नहीं होगा, जिसमें बुद्ध-मन्तव्य की भावना निहित न हो। तिपिटक में अधिकांश उपदेश उसी रूप में संकलित हैं जिस रूप में उनके शिष्यों को याद थे। प्रथम तथा द्वितीय धर्म-संगीति में भाग लेनेवाले भिक्षुओं की ईमानदारी एवं निष्ठा पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। अतः बुद्ध तथा उनके धर्म के समीप ले जानेवाला तिपिटक से अधिक प्रामाणिक और कोई ग्रन्थ नहीं है। यदि कहीं बुद्ध के उपदेशों में मिलावट का भी आभास हो तो भी तिपिटक ही बुद्ध-उपदेशों की जानकारी देनेवाला एकमात्र सहारा है।

३. विभाजन एवं कालानुक्रम

पालि-साहित्य के उस भाग का, जिसे तिपिटक कहा जाता है, विशेष विवरण इस प्रकार है—

१. **सुत्तपिटक :** यह पांच निकायों में विभाजित है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दकनिकाय। इनमें खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत पन्द्रह ग्रन्थों का समावेश है—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस एवं चरियापिटक।

२. **विनयपिटक :** यह पाँच भागों में विभक्त है—पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग तथा परिवार। इनमें पाराजिक एवं पाचित्तिय को सुत्तविभंग तथा महावग्ग एवं चुल्लवग्ग को खन्धक कहा जाता है।

३. **अभिधम्मपिटक :** इसमें सात ग्रन्थों का समावेश है—धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक तथा पट्ठान।

बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों के रूप में उक्त विभाजन के अतिरिक्त और भी तीन प्रकार से विभाजन किया जाता है।

प्रथम प्रकार : सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को पाँच निकायों में विभक्त किया जाता है। इनमें प्रथम चार निकाय तो सुत्तपिटक के प्रथम चार निकाय हैं, अन्तिम निकाय (खुद्दकनिकाय) में शेष सभी बुद्ध-वचनों का समावेश कर लिया जाता है।

द्वितीय प्रकार : इसके अनुसार समस्त बुद्ध-वचनों को नौ अंगों में विभक्त किया जाता है—

सुत्त (गद्य में निहित बुद्ध-उपदेश), गेय्य (बुद्ध-वचनों के गद्य-पद्य मिश्रित गाने योग्य अंश), वेय्याकरण (व्याकरण, विवरण, विवेचन), गाथा (पद्य में रचित अंश), उदान (बुद्ध के मुख से निकले प्रीति-वाक्य), इतिवुत्तक ('तथागत ने ऐसा कहा है' से प्रारम्भ होनेवाले उपदेश), जातक (बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बद्ध कथाएँ), अब्भुतधम्म (अद्भुत वस्तुओं का निरूपण करनेवाले बुद्ध-वचन), वेदल्ल (प्रश्न तथा उत्तर के रूप में दिये गये बुद्ध-उपदेश)।

तृतीय प्रकार : इसके अनुसार समस्त बुद्ध-वचनों का वर्गीकरण ८४००० धर्मस्कन्धों के रूप में किया गया है।

उक्त तीन वर्गीकरणों में प्रथम स्वाभाविक नहीं है, द्वितीय ग्रन्थों की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है तथा तृतीय प्रयोग में शक्य नहीं है। अत: यहाँ तिपिटक के रूप में ही विभाजित बुद्ध-वचनों को आधार मानकर उस वर्गीकरण में उल्लिखित ग्रन्थों की पूर्वापरता या कालानुक्रम पर विद्वानों का जो मत है उसीको यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

तिपिटक के रूप में संकलित बुद्ध-वचनों में जो सर्वाधिक प्राचीन हैं वे ४८३ ई० पू० के हैं और जो सर्वाधिक अर्वाचीन हैं उनका समय २० ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में बुद्ध के वचन ४८३ ई० पू० से २० ई० पू० तक के हैं।

इन दोनों—(प्राचीन एवं अर्वाचीन) सीमाओं को ध्यान में रखते हुए तिपिटक के ग्रन्थों का विभाजन विकास की दृष्टि से निम्नलिखित पाँच अवस्थाओं में किया गया है—

प्रथम युग (४८३ ई० पू० से ३८३ ई० पू० तक)
द्वितीय युग (३८३ ई० पू० से २६५ ई० पू० तक)
तृतीय युग (२६५ ई० पू० से २३० ई० पू० तक)
चतुर्थ युग (२३० ई० पू० से ८० ई० पू० तक)
पञ्चम युग (८० ई० पू० से २० ई० पू० तक)

तिपिटक के ग्रन्थों का कालानुक्रम विद्वानों ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. वे बुद्ध-वचन जो समान शब्दों में ही सभी ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

२. वे बुद्ध-वचन जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३. शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख।

४. दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्तनिकाय।

५. सुत्तनिपात, थेरगाथा, थेरीगाथा, उदान, खुद्दकपाठ ।

६. सुत्तविभंग, खन्धक ।

७. जातक, धम्मपद ।

८ निद्देस, इत्तिवुत्तक, पटिसम्भिदामग्ग ।

९. पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस ।

१०. अभिधम्मपिटक के ग्रन्थ जिनमें पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम हैं ।

इस क्रम को देखकर तिपिटक-साहित्य के विकासक्रम की सामान्य धारणा ही बनायी जा सकती है, क्योंकि यह क्रम अपर्याप्त है । पर्याप्त विकासक्रम को समझने के लिए प्रत्येक उपदेश के समस्त अंगों को देखना होगा । उदाहरणस्वरूप महापरिनिब्बान-सुत्त में कुछ अंश तो अत्यधिक प्राचीन हैं, किन्तु अन्य कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन । फिर भी २० ई० पू० तक सारा तिपिटक अपने अन्तिम रूप में आ चुका था ।

४. महत्त्व

तिपिटक-साहित्य अधोलिखित कारणों से महत्त्वपूर्ण है--

१. यह बुद्ध एवं उनके धर्म का सबसे बड़ा परिचायक है । अगर तिपिटक-साहित्य को अनदेखा कर भगवान् बुद्ध एवं उनके धर्म को समझने का प्रयास किया जाय तो वह पूर्णतया भ्रामक एवं निरर्थक होगा ।

२. इसमें भिक्षुसंघ के आचार से सम्बद्ध नियम-उपनियमों का संकलन है ।

३. तिपिटक के अन्तर्गत अभिधम्मपिटक के कारण हम बौद्ध-नैतिकवाद एवं बौद्ध-मनोविज्ञान से परिचित होते हैं । आज के भौतिक एवं वैज्ञानिक युग में मानसिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए उक्त नैतिकवाद एवं मनोविज्ञान उपयोगी हैं ।

४. तिपिटक के माध्यम से ही भारतीय इतिहास का निश्चित स्वरूप प्रकट होता है । इससे पूर्व का साहित्य इतिहास-सम्बन्धी विभिन्न बिन्दुओं पर प्रकाश नहीं डालता है । इतिहास का प्रकाश सबसे पहले तिपिटक से ही प्राप्त होता है ।

५. इससे भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध सूचनाएँ प्राप्त होती हैं ।

६. इसकी भाषा सरल है तथा शैली उदात्त एवं मनोरम है ।

●

तीसरा अध्याय

सुत्तपिटक

सुत्तपिटक भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों का प्रामाणिक संकलन है। भगवान् बुद्ध या उनके किसी शिष्य द्वारा भिन्न-भिन्न जीवन-स्तर के मनुष्यों तथा भिक्षुओं को जो उपदेश दिये थे, उन्हें इस पिटक के अन्तर्गत रखा गया है।

सुत्त : सूत्र या सूक्त

सुत्त शब्द का संस्कृतरूप सूत्र दिया जाता है, किन्तु जिस अर्थ में संस्कृत में सूत्र शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह अर्थ सुत्तों में घटित नहीं होता है। सूत्र शब्द का प्रमुख लक्षण है—संक्षिप्त कथन। इसमें न तो किसी विषय की विस्तृत व्याख्या रहती है और न ही पुनरुक्तियों का अस्तित्व। दूसरी ओर सुत्तपिटक के सुत्तों में किसी विषयविशेष का विस्तार से वर्णन मिलता है और उन वर्णनों में पुनरुक्तियों का प्रयोग खुलकर किया गया है। अतः सुत्त शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है तथा संस्कृत में इसका पर्यायवाची शब्द क्या हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यदि बुद्ध-कालीन भारत की परिस्थितियों पर ध्यान दें तो एक बात निर्विवाद रूप से सामने आती है कि उस समय वेदों के सूक्तों का धर्मोपदेश के रूप में पर्याप्त प्रचार था तथा कुछ भिक्षु बुद्ध के उपदेशों को वेदों की भाषा में परिवर्तित करने के भी इच्छुक थे। अतः सुत्त शब्द को संस्कृत में सूक्त कहना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। सूक्त शब्द का भी अर्थ सुत्त शब्द के समान सुन्दर कथन होता है। अतः बुद्ध या उनके शिष्यों द्वारा दिये गये धर्मोपदेश को सूक्त (सुन्दर कथन) कहना ही उचित होगा और इसी अर्थ के आधार पर सुत्तपिटक का अर्थ है—बुद्ध के धर्मोपदेशों का संग्रह।

सुत्तपिटक के सुत्तों की शैली रोचक है। यद्यपि बुद्ध का जीवन-दर्शन एक ही है, फिर भी भिन्न-भिन्न जीवन-स्तर के मनुष्यों को उसका उपदेश देते समय उनकी रुचि, सामर्थ्य आदि का ध्यान रखकर शैली में भी विभिन्नता अपनायी गयी है। प्रत्येक सुत्त 'ऐसा मैंने सुना' (एवं मे सुतं) से प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् उपदेश से सम्बद्ध प्रसंग रहता है, जिससे वह उपदेश कब, किसे और क्यों दिया गया है, इसके विषय में जानकारी प्राप्त होती है। उपदेश के समय प्रश्नोत्तर का पूरा विवरण रहता है। उपदेश के प्रारम्भ में कुशलक्षेम एवं अन्त में सन्तोष की अभिव्यक्ति भी एक जैसे शब्दों में की गयी है। महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् सुत्तों में एक जैसी शब्दावली

में वर्णन किया गया है। सिद्धान्तों को समझाने के लिए उपयुक्त उपमाओं का उपयोग भी किया गया है। सुत्तों की विषयवस्तु बुद्ध के उपदेशों के साथ-साथ उस समय के दार्शनिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है।

सुत्तपिटक के अधिकांश सुत्त गद्य में उपलब्ध होते हैं। थोड़े से पद्य में या गद्य तथा पद्य दोनों में भी हैं। कहीं-कहीं गद्य में कहे गये उपदेश को ही विशेष महत्त्व प्रदान करने की दृष्टि से पद्य में भी कह दिया गया है।

सुत्तों की भाषा सरल एवं सजीव है। भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सहज ही में कण्ठस्थ हो जाती है। मिलने, विदा लेने, प्रमुदित होने, पश्चात्ताप करने, आश्चर्य करने आदि अवसरों पर एक-सी शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त उपदेश की विधि भी प्रायः समान है। पहले दान, शील, स्वर्ग, काम-भोगों की बुराई, वैराग्य की अच्छाई का उपदेश दिया जाता है। जब भगवान् को यह आभास हो जाता है कि श्रोता स्वच्छ हृदय का हो गया है, तब उसे चतुरार्यसत्य का उपदेश देते हैं। इस प्रकार प्रमुख अवसरों के लिए प्रयुक्त भाषागत एकरूपता उपदेशों को हृदयङ्गम कराने में सहायक सिद्ध होती है। इतना सब होने पर भी सुत्तों की भाषा एवं शैली में न तो कहीं कृत्रिमता का आभास होता है और न ही जटिलता का।

सुत्तपिटक मुख्य रूप से पांच निकायों में विभाजित है। इनमें से प्रथम चार निकायों में तो सुत्तों या सूक्तों का संग्रह है, किन्तु अन्तिम निकाय में १५ ग्रन्थों का समावेश है। कहीं-कहीं निकाय शब्द के स्थान पर आगम शब्द का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

दीघनिकाय

यह ३४ सुत्तों का संग्रह है। चूंकि ये सुत्त आकार में दीर्घ या बड़े हैं, अतः इसे दीघनिकाय कहा जाता है। कुछ सुत्त तो इतने बड़े हैं कि उन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में माना जा सकता है। ये सुत्त तीन भागों में विभक्त हैं—सीलक्खन्धवग्ग, महावग्ग तथा पाथिकवग्ग। सीलक्खन्धवग्ग के अन्तर्गत क्रम संख्या एक से तेरह तक के सुत्त आते हैं। इसके अधिकांश सुत्तों में प्रारम्भिक, मध्यम एवं महाशील का विस्तार से वर्णन किया गया है, अतः इस भाग का नाम सीलक्खन्धवग्ग रखा गया है। इसके प्रथम सुत्त ब्रह्मजालसुत्त में तत्कालीन समाज की अवस्था के साथ-साथ लोक तथा आत्मा के सम्बन्ध में प्रचलित ६२ मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख है। इसी प्रकार सामञ्ञ-फलसुत्त में छः प्रमुख तीर्थंकरों के दार्शनिक मतों का उल्लेख मिलता है। अम्बट्ठसुत्त में वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में बुद्ध के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। सोणदण्डसुत्त से ज्ञात होता है कि बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित होने पर भी सोणदण्ड अपने

सामाजिक सम्मान के कारण उनका (बुद्ध) जनता के सामने अभिवादन आदि करने में हिचकिचाता है। कूटदन्तसुत्त में तत्कालीन यज्ञों का तथा आदर्श यज्ञ का स्वरूप बतलाया गया है। तेविज्जसुत्त में ब्रह्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त को हास्यास्पद बतलाया गया है।

दीघनिकाय का दूसरा भाग महावग्ग है। इस भाग में दस सुत्तों का संग्रह है। इनमें से सात सुत्तों के नामों में महाशब्द जुड़ा हुआ है, अतः इसे 'महावग्ग' नाम से अभिहित किया गया है। इसके अधिकांश सुत्तों के विषय पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक तथ्यों से सम्बद्ध हैं। इसके महापरिनिब्बानसुत्त एवं महासतिपट्ठानसुत्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

महापरिनिब्बानसुत्त विषयवस्तु एवं आकार दोनों ही दृष्टियों से अन्य सुत्तों से पृथक् है। यह एक अथवा अधिक बौद्ध-सिद्धान्तों का न तो उपदेश है और न ही संवाद, अपितु यह बुद्ध के जीवन के अन्तिम दिनों का विवरण है। इसमें बुद्ध के अन्तिम उपदेश, उद्गार तथा परिनिर्वाण का वर्णन है। इसका प्राचीन भाग निश्चय ही त्रिपिटक के प्राचीन भागों में आता है। यद्यपि पालि तिपिटक में बुद्ध की जीवनी उपलब्ध नहीं होती है, फिर भी उनके जीवन से सम्बद्ध कतिपय बातें सुत्तपिटक एवं विनयपिटक में यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। इस सुत्त में बुद्ध की अन्तिम जीवनी क्रमिक ढंग से उपलब्ध होती है। अतः बुद्ध के शिष्यों ने बड़ी ही सावधानी से इस महत्त्वपूर्ण अंश को सुरक्षित रखा है। सुत्त की सम्पूर्ण विषयवस्तु को देखने से यह ज्ञात होता है कि इसमें कुछ अंश तो प्राचीन हैं और कुछ बाद में जोड़े गये हैं। अतः प्रारम्भ में यह परिनिब्बानसुत्त के रूप में रहा होगा और कालान्तर में वही अन्य विषयवस्तु को जोड़े जाने के बाद महापरिनिब्बानसुत्त के रूप में स्वीकृत हुआ होगा। इस सुत्त के द्वितीय भाणवार के वे अंश, जिनमें बुद्ध की प्रथम बीमारी का वर्णन है, निश्चय ही प्राचीन हैं। साथ ही वे अंश भी प्राचीन हैं, जिनमें बुद्ध ने आनन्द को विश्वास दिलाया था कि उन्होंने अन्य आचार्यों की तरह रहस्य को छिपाकर नहीं रखा है और न ही कभी अपने को संघ का सर्वेसर्वा माना है। इसी अवसर पर उन्होंने कहा कि संघ उन पर निर्भर नहीं है, उनके परिनिर्वाण के बाद संघ नेतृविहीन नहीं होगा, संघ उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म के दिग्दर्शन में चलता रहेगा, अतः आनन्द, तुम अपना प्रकाश बनो, अपनी शरण बनो, अपने प्रकाश के रूप में धर्म का दृढ़ता से पालन करो। इसी प्रकार पाँचवें भाणवार में जब आनन्द बुद्ध के अन्तिम गमन को जानकर एक ओर जाकर रोने लगे तो बुद्ध ने उन्हें बुलाकर सान्त्वना दी। ये सब वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक हैं, अतः इन्हें सुत्त का प्राचीन अंश मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त बुद्ध एवं उनके शिष्यों के उद्गारों से परिपूर्ण सुत्त में यत्र-

तत्र बिखरी हुई गाथाएँ भी सुत्त के प्राचीन अंशों में रखी जा सकती हैं। उक्त सभी सम्बद्ध अंशों में बुद्ध एक मानव के रूप में प्रकट होते हैं।

इससे विपरीत इसी सुत्त में ऐसे अंश भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें बुद्ध एक देवता या चमत्कारी व्यक्ति के रूप में आते हैं। वे एक जगह यह कहते हुए पाये जाते हैं कि वे इच्छा होने पर कल्प के अन्त तक रह सकते हैं और आनन्द को धिक्कारते हैं कि उसने उचित समय पर उनसे कल्पभर ठहरने का अनुरोध नहीं किया। इसी प्रकार बुद्ध के आयुसंस्कार समाप्त करने के निश्चय से भूचाल का आना, बुद्ध द्वारा भूचालों के आठ कारण गिनाना तथा अन्य आठ-आठ प्रकार की चीजें गिनाना आदि ऐसे अंश हैं, जो प्राचीन संकलनकर्त्ताओं की भावना के प्रतिकूल हैं। इस सुत्त में धम्मादास, बुद्ध धर्म एवं संघ में विश्वास आदि बातों को सुत्त का महत्त्व बढ़ाने की दृष्टि से बाद में जोड़ा गया है। सुत्त को अन्तिम रूप बाद में दिया गया है। कारण, उपसंहार में बुद्ध की धातुओं का सत्कार एवं उन पर बनाये गये स्तूपों का वर्णन है। प्रारम्भ में एक सामान्य मानव एवं धर्म के उपदेष्टा भगवान् बुद्ध अन्त में भक्ति-भावना के विषय बन गये। इस प्रकार प्राचीन एवं अर्वाचीन अंशों के सम्मिश्रण से बने इस महान् सुत्त का अपना एक विशेष महत्त्व है। अर्वाचीन अंशों के कारण कहीं भी सुत्त का क्रम भङ्ग नहीं हुआ है और यह बुद्ध के अन्तिम समय के सुन्दर विवरण प्रस्तुत करने के अपने महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को नहीं खोता है।

इस भाग का दूसरा महत्त्वपूर्ण सुत्त महासतिपट्ठानसुत्त है। आर्याष्टाङ्गिक मार्ग में सम्मासति (सम्यक् स्मृति) को उपस्थित करने का उपाय इसमें बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने इस सुत्त में वर्णित चार स्मृति-प्रस्थानों को सत्त्वों की विशुद्धि के लिए, शोक के निवारण के लिए, दुःख और दौर्मनस्य का अतिक्रमण करने के लिए, सत्य की प्राप्ति के लिए और निर्वाण के साक्षात्कार के लिए सर्वोत्तम मार्ग बतलाया है। पायासिराजञ्ञसुत्त में आत्मा एवं परलोक को न माननेवाले नास्तिकों के प्रमुख पायासि और कुमार काश्यप के बीच सुन्दर संवाद प्रस्तुत किया गया है।

दीघनिकाय के तीसरे भाग का नाम पाथिकवग्ग है। इसमें ११ सुत्तों का संकलन है। इन सुत्तों में पाथिकसुत्त पहला है, अतः उसीके आधार पर इस भाग का नाम पाथिकवग्ग रखा गया है। यदि 'पाथिकवग्ग' के स्थान पर इस भाग का नाम 'पाथिकादिवग्ग' होता तो और अधिक स्पष्ट होता।

इस भाग के प्रथम सुत्त में हम भगवान् बुद्ध को चमत्कार-प्रदर्शन के हेतु सुनक्खत्त के निमन्त्रण को स्वीकार करते हुए देखते हैं। इस सुत्त के प्रारम्भिक अंश में बुद्ध के आदर्श का दिग्दर्शन होता है, किन्तु चमत्कार से सम्बद्ध अंश बुद्ध को

शिक्षा के प्रतिकूल हैं। चक्कवत्तिसुत्त में यह भावना प्रकट की गयी है कि सदाचरण से सम्पन्नता एवं दुराचरण से निर्धनता आती है। अग्गञ्ञसुत्त में प्रलय के बाद सृष्टि का विचार है। पासादिकसुत्त एवं संगीतिसुत्त में निगण्ठनाटपुत्त के निधन के बाद उनके शिष्यों में उत्पन्न कलह की चर्चा है तथा उन परिस्थितियों से भिक्षु-संघ को दूर करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सिगालोवादसुत्त में बुद्ध द्वारा गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में संकलित महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है। गृहस्थ-जीवन में परिवार के सदस्यों के एक-दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य हैं और एक-दूसरे पर क्या अधिकार हैं—इसका इस सुत्त में बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। आटानाटियसुत्त में भूत-यक्षों से रक्षा के उपाय बतलाये गये हैं। अन्तिम दो सुत्त अङ्गुत्तरनिकाय की शैली पर आधारित हैं।

दीघनिकाय के उक्त तीन भागों के सुत्तों पर सरसरी दृष्टि डालने पर स्पष्ट होता है कि इनमें कुछ सुत्त ऐसे हैं, जिनमें बुद्ध एक शिक्षक के रूप में प्रकट होते हैं। ये सभी सुत्त प्राचीन हैं। इन सुत्तों के अन्तर्गत प्रथम भाग के समस्त सुत्त, महापरिनिब्बानसुत्त के कुछ अंश तथा सिगालोवादसुत्त रखे जा सकते हैं। द्वितीय भाग के अधिकांश सुत्त पुराण-इतिहास से सम्बद्ध हैं। तीसरे भाग के वे सुत्त, जो बुद्ध के चमत्कार-प्रदर्शन का प्रकट या अप्रकट रूप से अनुमोदन करते हैं, निश्चय ही बाद के हैं।

कुछ विद्वानों ने दीघनिकाय को किसी लेखकविशेष की रचना बतलाया है। उनका तर्क यह है कि सुत्तों की विषयवस्तु प्रायः समान है। किन्तु दीघनिकाय के विषय में यह धारणा सर्वथा अनुचित है। यह तो संकलन-कर्ताओं की सूझ-बूझ का परिणाम है कि उन्होंने दीघनिकाय में ऐसे सुत्त रखे जो एक जगह संकलित होने चाहिये थे। अगर दीघनिकाय को एक लेखक की कृतिमात्र इस आधार पर माना जाय कि उसमें एक-सी विषयवस्तु प्रतिपादित है, तब तो सम्पूर्ण तिपिटक को एक ही लेखक की कृति मानना पड़ेगा।

मज्झिमनिकाय

यह सुत्तपिटक का दूसरा महत्त्वपूर्ण निकाय है। इसमें मध्यम आकार के १५२ सुत्तों का संकलन है, अतएव इसे मज्झिमनिकाय कहा जाता है। यह तीन भागों (पण्णासकों या पचासों) में विभक्त है—मूलपण्णासक (५० सुत्त), मज्झिमपण्णासक (५० सुत्त) तथा उपरिपण्णासक (५२ सुत्त)। प्रत्येक पण्णासक भी दस-दस सुत्तों के पाँच-पाँच वर्गों में विभक्त है। केवल उपरिपण्णासक का चतुर्थ वर्ग इसका अपवाद है, क्योंकि इसमें दस के स्थान पर बारह सुत्त हैं। इस प्रकार १५२ सुत्तोंवाला सम्पूर्ण मज्झिमनिकाय संक्षेप में तीन पण्णासकों में एवं विस्तार से १५ वर्गों में विभक्त है।

दीघनिकाय की अपेक्षा मज्झिमनिकाय के सुत्त आकार में छोटे हैं, किन्तु इसका भी प्रत्येक सुत्त अपने में पूर्ण है। इन सुत्तों में बुद्ध की जीवनी, उनके गुण, उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म (आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग) एवं दर्शन (प्रतीत्यसमुत्पाद), निर्वाण, ध्यान आदि का सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त इन सुत्तों से तत्कालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक स्थिति की झलक भी मिलती है। इन्हीं सब कारणों से महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने मज्झिमनिकाय को बुद्धवचनामृत कहा है। इस प्रसङ्ग में उनका कथन है कि "त्रिपिटक-वाङ्मय में मज्झिमनिकाय का सर्वोच्च स्थान है। विद्वान् लोग इसके बारे में कहते हैं कि यदि सारा त्रिपिटक एवं बौद्ध-साहित्य नष्ट हो जाय, सिर्फ मज्झिमनिकाय ही बचा रहे, तो भी इसकी मदद से बुद्ध के व्यक्तित्व, उनके दर्शन और अन्य शिक्षाओं के तत्त्व को समझने में कठिनाई नहीं होगी।"

सुत्तों में भगवान् बुद्ध के उपदेश उपमाओं की सहायता से बड़ी ही रोचक शैली में प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं एक ही उपमा का सहारा लिया गया है तो कहीं अनेक उपमाओं द्वारा अपने सिद्धान्त को समझाया है। कुछ स्थलों पर पौराणिक आख्यानों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप चूलतण्हासंखयसुत्त में शक्र को उद्विग्न करने के लिए महामोग्गल्लान द्वारा पैर के अँगूठे से वैजयन्त पर्वत को कम्पित करने का उल्लेख पौराणिक आख्यान पर आधारित है। इसके विपरीत कहीं-कहीं स्वाभाविक घटनाओं का भी वर्णन है। पात्र-चीवर की खोज में पुक्कुसाति का पागल गाय द्वारा मारा जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। अस्सलायनसुत्त (९३) तत्कालीन समाज में प्रचलित जातिवाद और उसके विषय में बुद्ध के मन्तव्य को स्पष्ट करता है। अंगुलिमालसुत्त (८६) में भयंकर डाकू अंगुलिमाल द्वारा प्रव्रज्या लेकर अर्हद् होने का वर्णन शिक्षाप्रद है। रट्ठपालसुत्त (८२) में प्रव्रज्या के बाद रट्ठपाल द्वारा अपने ही घर में दासी द्वारा फेंकने को लायी गयी दाल ग्रहण करने का रोमाञ्च-कारी वर्णन है। महादुक्खक्खन्धसुत्त (१३) में तत्कालीन समाज में प्रचलित कठोर दण्डों की सूची, ब्राह्मणों में प्रचलित यज्ञ के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी, धर्म के नाम पर गाय के समान खाने-पीने का व्रत रखनेवाले गोव्रतिक या कुत्ते के समान रहनेवाले कुक्कुरव्रतिक (५७) आदि की महत्त्वपूर्ण सूचनायें मज्झिमनिकाय से प्राप्त होती हैं।

सुत्तों में कुछ ऐसे सुत्त (२६, ३६) हैं, जिनमें बुद्ध की जीवनी सहज एवं स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत की गयी है, लेकिन कुछ सुत्तों में उनका जीवन चमत्कारों से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। कुछ सुत्त (५७, १०१, १०४) ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

अधिकांश उपदेश बुद्ध द्वारा दिये गये हैं, किन्तु ऐसे उपदेश भी उपलब्ध होते हैं, जो बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त या मोग्गल्लान द्वारा दिये गये हैं। सुत्त ८४, ९४ तथा १०८ बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद का चित्र उपस्थित करते हैं। यद्यपि मज्झिम-निकाय के सुत्तों का विषय धर्म है किन्तु सुत्त १०३, १०४, १०८ और १४२ धम्म की अपेक्षा विनय से अधिक सम्बद्ध हैं। १३१ से १३४ तक के सभी सुत्तों में भूत-भविष्य की चिन्ता को छोड़कर वर्तमान में लगने का उपदेश तरह-तरह से दिया गया है।

मज्झिमनिकाय में कुछ सुत्त तो अत्यन्त प्राचीन हैं। इनमें बुद्ध मानव के रूप में प्रकट होते हैं। किन्तु चमत्कारों से परिपूर्ण एवं नरक आदि का विस्तृत वर्णन करनेवाले अथवा अंगुत्तरनिकाय की शैली में अभिधम्म का विषय प्रस्तुत करनेवाले सुत्त निश्चित रूप से अपेक्षाकृत बाद के हैं। अस्सलायनसुत्त में योनकम्बोज का उल्लेख है, जो अशोक से कुछ ही पहले का होने का संकेत देता है। इस प्रकार विविध विषयों का प्रतिपादन करनेवाले सुत्तों में जिनकी विषयवस्तु स्वाभाविक प्रतीत हो, जिनमें बुद्ध मानव के रूप में दिखें तथा जिनकी शैली सहज हो, उन्हें प्राचीन माना जा सकता है। सुत्तों की या उनमें आये अंशों की पूर्वापरता को भी इसी आधार पर निश्चित करना चाहिये।

संयुत्तनिकाय

सुत्तपिटक का यह तीसरा निकाय है। चूँकि इसमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संकलन है, अतः इसे संयुत्तनिकाय कहा जाता है। इस निकाय में सुत्तों को विषय आदि की दृष्टि से संयुत्तों (संयुक्तों) में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है, इसलिए भी इसे संयुत्तनिकाय कहा जाता है।

यह निकाय प्रधान रूप से पाँच वर्गों में विभक्त है—सगाथवग्ग, निदानवग्ग, खन्धवग्ग, सळायतनवग्ग एवं महावग्ग। सगाथवग्ग में २७१ सुत्त हैं, जा ग्यारह संयुत्तों में विभक्त हैं। इस वर्ग के सुत्तों में गाथाओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है, इसलिए इसे 'सगाथवग्ग' कहा गया है। मुत्तों के प्रारम्भ में उस स्थान, काल, व्यक्ति आदि का परिचय दिया गया है; जहाँ, जिस समय तथा जिसे वह उपदेश दिया गया है। सामान्यतः कोई व्यक्ति गाथाओं में प्रश्न करता है और भगवान् बुद्ध उसका गाथाओं में ही उत्तर देते हैं। सगाथवग्ग में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनकी तुलना दूसरी परम्परा के ग्रन्थों से की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप वुट्ठिसुत्त की विषयवस्तु महाभारत के वनपर्व में आये युधिष्ठिर-यक्ष-संवाद के समान है। इसी प्रकार मित्तसुत्त का विषय भी महाभारत के वनपर्व में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार दुक्करसुत्त में शान्त भिक्षु की उपमा अपनी खोपड़ी में अंगों को समेटे हुए कछुए से दी गयी है, ठीक वैसी

ही उपमा भगवद्गीता में विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेनेवाले योगी के विषय में भी आयी है। गर्भ में स्थित प्राणी के विषय में जो इन्दकसुत्त में कहा गया है, वही भागवत में भी प्राप्त होता है। इस वग्ग की गाथाएँ बड़ी सुन्दर तथा भावात्मक हैं। इसके मारसंयुत्त एवं भिक्खुनीसंयुत्त आख्यानात्मक काव्य के उत्तम उदाहरण हैं।

संयुत्तनिकाय के द्वितीय वर्ग का नाम निदानवग्ग है। निदान का अर्थ मूल कारण है। इस वग्ग के सुत्तों में संसार के मूल कारण पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे शब्दों में इस वग्ग का विषय संसार-चक्र की व्याख्या करना है। बौद्ध-दर्शन में इसे प्रतीत्यसमुत्पादवाद से भी जाना जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंगों के द्वारा यह बतलाया गया है कि कैसे सत्त्व संसार-चक्र में फँसा आ रहा है और इसकी मुक्ति कैसे हो सकती है। सम्पूर्ण निदानवग्ग में इसी सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के मर्म को समझने के लिए इस वग्ग के सुत्त बहुत उपयोगी हैं। इस वग्ग में २९६ सुत्त हैं, जो दस संयुत्तों में विभक्त हैं।

संयुत्तनिकाय का तीसरा भाग खन्धवग्ग है। इसमें १३ संयुत्तों में विभक्त ७१६ सुत्त हैं। बौद्ध-दर्शन में स्कन्धों का बड़ा महत्त्व है। इन स्कन्धों के विवेचन के माध्यम से यह बतलाया गया है कि संसार में शुद्ध इकाई के रूप में किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। यही सिद्धान्त व्यक्ति के ऊपर भी लागू होता है। जिसे मनुष्य के रूप में जाना जाता है, वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों का समूहमात्र है। यही बात अनात्मवाद के नाम से जानी जाती है। खन्धवग्ग के सभी सुत्तों में यही भाव निहित है कि पांच स्कन्ध अनित्य, अनात्म एवं दुःखरूप हैं, किन्तु अज्ञानवश मनुष्य उन्हें नित्य, आत्म एवं सुखरूप समझकर उनमें आसक्ति करता है। इन सुत्तों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यहाँ पञ्चस्कन्धों की दार्शनिक व्याख्या नहीं की गयी है, अपितु प्रत्येक स्कन्ध को अनित्य, अनात्म एवं दुःखरूप बतलाकर उनसे विरक्त रहने का उपदेश दिया गया है और इसे ही निर्वाण का मार्ग बतलाया गया है। इन पाँच स्कन्धों को भारस्वरूप और निर्वाण को भारमुक्त कहा गया है।

सळायतनवग्ग संयुत्तनिकाय का चौथा वग्ग है। इसमें ४३४ सुत्त हैं, जो १० संयुत्तों में विभक्त हैं। इस वग्ग के सुत्तों में छः आयतनों का वर्णन है। छः आयतनों के नाम उनके विषय के साथ इस प्रकार हैं—चक्षु-रूप, श्रोत्र-शब्द, घ्राण-गन्ध, जिह्वा-रस, काय-स्पर्श, मन-धर्म। इन पाँच स्कन्धों की छः आयतनों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि स्कन्धों में जो रूप है, आयतनों में उसके स्थान पर प्रथम पाँच आयतन और उनके विषय आते हैं। इसी प्रकार स्कन्धों में परिगणित विज्ञान

के स्थान पर आयतनों में मन है और वेदना, संज्ञा तथा संस्कार स्कन्धों के स्थान पर आयतनों में मन का विषय धर्म आता है। दूसरे शब्दों में खन्धवग्ग का जो अनात्मवाद विषय है, वही सळायतनवग्ग का भी है। फलतः इस वग्ग में भी यही बतलाया गया है कि जो छः आयतन एवं उनके छः विषय हैं, वे सभी स्वभावतः अनित्य, अनात्म एवं दुःखरूप हैं। उन्हें नित्य, आत्म एवं सुखरूप मानना ही संसार के भ्रमण का कारण है। इस वग्ग में भी विवेचन दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत नहीं किया गया है, अपितु छः आयतनों और उनके छः विषयों के वास्तविक रूप पर प्रकाश डाला गया है।

संयुत्तनिकाय का पांचवाँ वग्ग महावग्ग है। इसमें १२२४ सुत्त हैं, जो १२ संयुत्तों में विभक्त हैं। इन १२ संयुत्तों में बौद्ध धर्म एवं दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इनके नाम हैं—मग्गसंयुत्त, बोज्झङ्गसंयुत्त, सतिपट्ठानसंयुत्त, इन्द्रियसंयुत्त, सम्मप्पधानसंयुत्त, बलसंयुत्त, इद्धिपादसंयुत्त, अनुरुद्धसंयुत्त, झानसंयुत्त, आनापानसंयुत्त, सोतापत्तिसंयुत्त एवं सच्चसंयुत्त।

संयुत्तनिकाय के कुल ५६ संयुत्तों का नामकरण जिन तीन कारणों में से किसी एक कारण को ध्यान में रखकर किया गया है, वे इस प्रकार हैं—१. बौद्ध धर्म के किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन करनेवाले सुत्तों का संयुत्त, जैसे—मग्गसंयुत्त, बोज्झङ्गसंयुत्त, बलसंयुत्त आदि; २. मनुष्य, देवता, यक्ष आदि का निर्देश जिन सुत्तों में आता है, उन्हें एक जगह कर उस संयुत्त का नामकरण निर्दिष्ट मनुष्य, देवता, यक्ष आदि के कारण किया गया है, जैसे—देवतासंयुत्त, ब्राह्मणसंयुत्त, यक्खसंयुत्त आदि; ३. उपदेश देनेवाले व्यक्ति से सम्बद्ध सुत्तों से बने संयुत्त का नामकरण तत् तत् उपदेष्टा के नाम पर किया गया है जैसे—मोग्गल्लानसंयुत्त, सारिपुत्तसंयुत्त, कस्सपसंयुत्त आदि।

संयुत्तनिकाय के सुत्तों का तत्कालीन भारत की धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से भी प्रभूत महत्त्व है। उदाहरणस्वरूप खन्धसंयुत्त में बुद्धकालीन छः प्रसिद्ध तीर्थंकरों का वर्णन है। जातिवाद या ब्राह्मणवाद से भारतीय समाज किस प्रकार ग्रस्त था तथा उससे छुटकारा दिलाने के लिए बुद्ध ने क्या किया—इसका भी संयुत्तनिकाय में यत्र-तत्र वर्णन है। इसी प्रकार कोसलराज प्रसेनजित् से मगधराज अजातशत्रु की पराजय, तत्पश्चात् प्रसेनजित् की पुत्री का अजातशत्रु से विवाह और दहेज में काशीप्रदेश का दान आदि संयुत्तनिकाय के रोचक प्रसंग हैं। भौगोलिक दृष्टि से संयुत्तनिकाय में वनों, नदियों, आरामों, ग्रामों एवं प्रदेशों के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन सामाजिक जीवन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण सूचनायें भी इस निकाय के सुत्तों में बिखरी हुई हैं।

अङ्गुत्तरनिकाय

अङ्गुत्तरनिकाय सुत्तपिटक का चौथा बड़ा भाग है। पहले तीन भागों की भाँति इसका भी विषय बुद्ध-उपदेश या किसीके साथ सम्पन्न बुद्ध-संवाद का विवरण ही है। इसकी विशेषता केवल शैली को लेकर है। इसमें संख्याबद्ध शैली में ही समस्त सुत्तों का संकलन किया गया है। यद्यपि इस प्रकार की शैली पहले तीन निकायों तथा विनयपिटक के कुछ ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है तथापि इस निकाय में सुत्तों के संकलन में यह संख्याबद्ध शैली मूल आधार है।

अङ्गुत्तरनिकाय मूलतः ग्यारह निपातों में विभक्त है तथा प्रत्येक निपात अनेक वग्गों में विभक्त है। प्रत्येक वग्ग में अनेक सुत्तों का संकलन है। वग्ग में संकलित सुत्तों की अधिकतम संख्या २६२ तथा न्यूनतम ७ है। इस निकाय के सुत्तों की कुल संख्या २३०८ है।

विभिन्न निपातों के वग्गों की संख्या इस प्रकार है—

निपात	वग्ग-संख्या
एककनिपात	२०
दुकनिपात	१७
तिकनिपात	१६
चतुक्कनिपात	२७
पञ्चकनिपात	२६
छक्कनिपात	१२
सत्तकनिपात	१०
अट्ठकनिपात	१०
नवकनिपात	९
दसकनिपात	२२
एकादसकनिपात	३

प्रत्येक निपात में ऐसी संख्या से सम्बद्ध उपदेशों का संकलन है, जो संख्या उस निपात की है। उदाहरणस्वरूप एककनिपात में केवल उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध एक से है, दुकनिपात में केवल उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध दो से है। इसी प्रकार एकादसकनिपात में केवल उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध ग्यारह से है। कहीं-कही यह संख्या विभिन्न विषयों के जोड़ से पूरी की गयी है, जैसे नवकनिपात के २८वें सुत्त में ५ तथा ४ संख्यावाले दो विषयों का सम्मिलित वर्णन कर ९ संख्या का औचित्य बनाया गया है। इसी प्रकार एका-

दसक के ग्यारहवें सुत्त में चार विषयों के मिश्रण से (३ + ३ + ३ + २ =) ग्यारह संख्या बनायी गयी है।

अङ्गुत्तरनिकाय की शैली को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक निपात के कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं। **एककनिपात** में पुरुष के चित्त को पकड़नेवाला स्त्रीरूप या स्त्रीशब्द आदि। इसी प्रकार स्त्री के चित्त को पकड़नेवाला पुरुषरूप आदि बतलाया गया है। पापमित्रता अनर्थकारी है। इसी निपात के एतदग्गवग्ग में बुद्ध ने अपने शासन के विभिन्न भिक्षु-भिक्षुणियों एवं उपासक-उपासिकाओं के दक्षताप्राप्त क्षेत्र की चर्चा की है। **दुकनिपात** का प्रारम्भ वर्जनीय वस्तुओं से होता है, जैसे—दो प्रकार की वर्ज्य वस्तुएँ—प्रत्यक्ष वर्ज्य तथा सम्परायिक वर्ज्य। तत्पश्चात् दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिषदें, दो प्रकार की इच्छाओं आदि का वर्णन है। **तिकनिपात** में तीन प्रकार के दुष्कृत्य, तीन प्रकार की वेदनाओं आदि का वर्णन है। **चतुक्कनिपात** में चार आर्यसत्य, चार ज्ञान, चार श्रामण्यफल, चार समाधि, चार योग आदि का उल्लेख है। **पञ्चकनिपात** में पाँच अंगोंवाली समाधि, पाँच उपादान-स्कन्ध, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच धर्मस्कन्ध आदि का विवरण है। **छक्कनिपात** में छः अनु-स्मृतियों, छः आध्यात्मिक आयतनों, छः अभिज्ञेयों आदि का वर्णन है। **सत्तकनिपात** में सात बल, सात सम्बोज्झङ्ग, सात अनुशय आदि की चर्चा है। **अट्ठकनिपात** में आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, आठ आरब्ध वस्तुओं, आठ विमोक्षों आदि का वर्णन है। **नवकनिपात** में नव संज्ञाओं, नव तृष्णामूलकों, नव सत्त्वावासों आदि का उल्लेख है। **दसकनिपात** में तथागत के दस बलों, दस आर्यवासों, दस संयोजनों आदि का विवेचन है। **एकादसकनिपात** में निर्वाणप्राप्ति के साधनों आदि की विवेचना है। इस प्रकार एक से लेकर ग्यारह निपातों तक निपातों की संख्या के अनुसार विषयों की संख्या एक से प्रारम्भ होकर बढ़ती हुई ग्यारह तक पहुँचती है। इसीलिए इसे अङ्गुत्तरनिकाय अर्थात् बढ़ते हुए अंकों के अनुसार उपदेशों का समूह कहा गया है। इसे कहीं-कहीं एकुत्तरनिकाय भी कहा गया है। सर्वास्तिवादियों का इसके स्थान पर एकोत्तरागम है जो अङ्गुत्तरनिकाय के अर्थ को ही प्रकट करता है।

अङ्गुत्तरनिकाय के सुत्तों को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश सुत्त अन्य ग्रन्थों में आ चुके हैं। उन्हें यहाँ केवल संख्या की दृष्टि से विभाजित किया गया है। यह इसलिए किया गया है, क्योंकि अंकों के आधार पर उपदेशों को स्मरण रखना अधिक सरल है। अभिधम्मपिटक में इसी संख्याबद्ध शैली का विकसित रूप प्राप्त होता है। अतः अङ्गुत्तरनिकाय को अभिधम्मपिटक का पूर्ववर्ती मानना अधिक युक्तियुक्त है।

अङ्गुत्तरनिकाय के अनेक सुत्त स्त्रियों से सम्बद्ध हैं। एक-दो स्थानों पर आनन्द को स्त्रियों का पक्ष लेते हुए भी देखा जाता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि

आनन्द नारी-समाज के विकास में उत्सुक थे। आनन्द को इसी कारण राजगृह की प्रथम सङ्गीति में प्रायश्चित्त करना पड़ा था।

संख्या को महत्त्व देने के कारण अधिकांश सुत्तों में केवल गणना का ही नीरस आभास होता है, फिर भी अनेक स्थलों पर धार्मिक एवं व्यावहारिक रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी बातें भी कही गयी हैं। जैनागमों में ठाणांग एवं समवायांग सुत्त भी इसी प्रकार की शैली के हैं। अतः अङ्गुत्तरनिकाय ठाणांग एवं समवायांग से तुलना के योग्य है।

चार निकायों में साम्य

खुद्दकनिकाय का विवरण देने के पूर्व यह आवश्यक है कि पूर्वोक्त चार निकायों में व्याप्त पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कर लिया जाय। इन निकायों में विभिन्न सुत्तों का संकलन है। ये यद्यपि आकार-प्रकार या शैली में भले ही एक-दूसरे से पृथक् प्रतीत हों, किन्तु जहाँ तक बुद्ध के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रश्न है, वे सभी निकायों में एक जैसे हैं। चार ध्यान, चार आर्यसत्य, आर्यअष्टाङ्गिक मार्ग आदि सिद्धान्तों का विवेचन जहाँ कहीं भी हुआ है, भाषा एवं भाव में एक जैसा ही है। कुछ ऐसे विषय भी हैं, जिनका सही निकाय निश्चित करना कठिन है। उदाहरणस्वरूप स्त्रियों को नरक में ले जानेवाली तीन बातों का उल्लेख संयुत्तनिकाय के मातुगामसंयुत्त एवं अङ्गुत्तरनिकाय के तिकनिपात में एक जैसा है। कहीं-कहीं संयुत्तनिकाय में अङ्गुत्तर-निकाय का विस्तारमात्र प्रतीत होता है। दीघनिकाय का महासतिपट्ठानसुत्त मज्झिम-निकाय के सतिपट्ठानसुत्त का ही विस्तृत रूप दिखता है।

निकायों में दूसरा साम्य पुनरुक्तियों का बाहुल्य है। इन पुनरुक्तियों से कभी-कभी नीरसता का अनुभव भी होता है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि मौखिक परम्परा में बुद्ध-उपदेशों को सुरक्षित रखने के लिए पुनरुक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि सुत्तों में यथासंभव पुनरुक्तियों का सहारा लिया गया है। बुद्ध-वचनों का संकलन करते समय जो सामग्री जिस भिक्षु से मिली, उसे उसी रूप में संकलित किया गया। फलस्वरूप कहीं-कहीं तो एक सुत्त का दूसरे सुत्त से नाममात्र का अन्तर है। पुनरुक्तियों के प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सुत्तों में बुद्ध के ऐसे भी उपदेश हैं, जो नपे-तुले शब्दों में हैं। इनमें से एक भी शब्द नहीं हटाया जा सकता है। इस प्रकार के उपदेश सभी निकायों में उपलब्ध होते हैं। इन्हें प्राचीन भाग कहना अनुचित न होगा।

शैली की दृष्टि से भी निकायों में विशेष अन्तर नहीं है। अंगुत्तरनिकाय की शैली में यद्यपि कुछ भिन्नता है और उससे उसे अन्य निकायों की अपेक्षा बाद का

माना जाता है, किन्तु वह अन्तर भी निकायों में विद्यमान मौलिक साम्य को प्रभावित नहीं करता है। तथ्य यह है कि सभी निकायों में प्राचीन एवं बाद के अंश प्राप्त होते हैं। दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त में तो पहले और बाद के अंशों का अनुभव पढ़ने मात्र से हो जाता है।

निकायों में अन्य उल्लेखनीय साम्य उपमा एवं दृष्टान्तों का प्रयोग है। उपमा या दृष्टान्त यद्यपि तर्क नहीं हैं, किन्तु उनका असर तर्क से भी अधिक होता है। इस प्रसङ्ग में जनपदकल्याणी एवं पंक्तिबद्ध अन्धों की उपमा स्वानुभवशून्य उन पुरुषों के लिए उपयुक्त है, जो ब्रह्म-सहव्यता का उपदेश देते हैं। अधिक प्रश्न करनेवाले व्यक्ति की उपमा उस शल्यविद्ध पुरुष से दी गई है, जो बाण निकलवाने के पहले बाण एवं बाण मारनेवाले के विषय में तरह-तरह के प्रश्न करता है। संसार की उपमा बाढ़ से तथा निर्वाण की उपमा उस पार से प्रायः सभी निकायों में उपलब्ध होती है।

इसके अतिरिक्त सभी निकायों में उपलब्ध उपमा, दृष्टान्त आदि से बुद्धकालीन समाज की स्थिति का ज्ञान होता है। यदि सुत्तपिटक का सहारा न लिया जाय तो बुद्धकालीन समाज एवं संस्कृति के ज्ञान का और कोई ठोस आधार नहीं है।

इन निकायों के ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सामाजिक तथ्यों को स्पष्ट एवं सरलता से समझने के लिए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने दीघनिकाय एवं मज्झिमनिकाय के हिन्दी अनुवादों में परिशिष्ट के रूप में नामानुक्रमणी, शब्दानुक्रमणी एवं उपमा-अनुक्रमणी दी है। इन अनुक्रमणियों को सरसरी दृष्टि से देखने से ही इन निकायों के महत्त्व का अनुभव हो जाता है।

खुद्दकनिकाय

यह सुत्तपिटक का पाँचवाँ भाग है। खुद्दकनिकाय का शाब्दिक अर्थ होता है—छोटे-छोटे ग्रन्थों का समूह, किन्तु इसके ग्रन्थों के आकार में विविधता है। खुद्दक-पाठ जैसे कुछ ग्रन्थ यदि आकार में छोटे हैं तो जातक जैसे कुछ ग्रन्थ बड़े भी हैं। विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टियों से भी ग्रन्थों में वैषम्य है। उदाहरणस्वरूप विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टियों से सुत्तनिपात प्राचीन है तो विमानवत्थु, पेत-वत्थु आदि अर्वाचीन। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इसमें दीघनिकाय आदि प्रथम चार निकायों जैसी एकरूपता नहीं है, अपितु इसके ग्रन्थों में व्याप्त विविधरूपता ही इस निकाय की प्रमुख विशेषता है।

खुद्दकनिकाय के स्वरूप एवं उसमें सम्मिलित ग्रन्थों की संख्या के विषय में विभिन्न परम्पराओं में आपस में मतभेद है। सामान्यतः खुद्दकनिकाय को सुत्तपिटक का हिस्सा माना जाता है, किन्तु दीघभाणक भिक्षुओं की परम्परा इसे अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत मानती है। पंचनेकायिकों की परम्परा अभिधम्मपिटक को खुद्दकनिकाय

के अन्तर्गत गिनती हैं। इन सभी परम्पराओं में खुद्दकनिकाय को सुत्तपिटक का अन्तिम निकाय माननेवाली परम्परा प्रसिद्ध एवं विद्वानों द्वारा मान्य है। अतः यहाँ उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए खुद्दकनिकाय को सुत्तपिटक का अन्तिम निकाय दिखाया गया है।

खुद्दकनिकाय की ग्रन्थ-संख्या के विषय में भी विभिन्न मत हैं। सिंहली परम्परा खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत निम्नलिखित पन्द्रह ग्रन्थों को मानती है—

१. खुद्दकपाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवुत्तक
५. सुत्तनिपात
६. विमानवत्थु
७. पेतवत्थु
८. थेरगाथा
९. थेरीगाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२. पटिसम्भिदामग्ग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

उक्त सूची में परिगणित निद्देस को चुल्लनिद्देस और महानिद्देस—इन दो ग्रन्थों के रूप में विभक्त कर गिनने पर उक्त संख्या सोलह भी हो जाती है।

बरमी परम्परा उक्त पन्द्रह ग्रन्थों के अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थों का भी खुद्दकनिकाय में समावेश करती है। वे ग्रन्थ हैं—१. मिलिन्दपञ्ह, २. सुत्तसङ्गह, ३. पेटकोपदेस एवं ४. नेत्तिप्पकरण। इसके विपरीत स्यामी परम्परा में सिंहली परम्परा द्वारा मान्य पन्द्रह ग्रन्थों में से आठ का उल्लेख नहीं है। ये ग्रन्थ हैं—१. विमानवत्थु, २. पेतवत्थु, ३. थेरगाथा, ४. थेरीगाथा, ५. जातक, ६. अपदान, ७. बुद्धवंस तथा ८. चरियापिटक। दीपवंस के अनुसार महासांघिकों ने पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस एवं जातक के कुछ अंशों को खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत नहीं माना है। चीनी आगमों में खुद्दकनिकाय का उल्लेख नहीं है, किन्तु खुद्दकनिकाय के कुछ ग्रन्थ अन्य निकाय में सम्मिलित किये गये हैं।

खुद्दकनिकाय के स्वरूप एवं ग्रन्थ-संख्या के विषय में अनिश्चितता की स्थिति दो तथ्यों को प्रकट करती है—पहला यह कि इसमें समाविष्ट विभिन्न ग्रन्थों की रचना एक साथ नहीं की गयी है और दूसरा यह कि उन ग्रन्थों की रचना किसी निकाय-विशेष में सम्मिलित करने के उद्देश्य से नहीं हुई थी। यहाँ पर सिंहली परम्परा के अनुसार ही खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों का विशेष विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. खुद्दकपाठ

यह खुद्दकनिकाय का पहला ग्रन्थ है। इसमें नौ पाठों का संग्रह है। इन पाठों का संग्रह श्रामणेरों के निमित्त किया गया है। बुद्ध-वचनों को सीखने के पूर्व खुद्दकपाठ को कण्ठस्थ करना श्रामणेरों को आवश्यक है। इसे दैनिक प्रार्थना की लघु पुस्तिका या बालपोथी भी कह सकते हैं।

इसके पाठों का विवरण इस प्रकार है—१. सरणत्तयं (तीन शरण), २. दससिक्खापदं (दस शिक्षापद), ३. द्वत्तिसाकारो (शरीर के ३२ अंग जिनकी गन्दगियों का ख्याल कर कायगता स्मृति का विकास किया जाता है), ४. कुमारपञ्हा (कुमारों के लिये प्रश्न)—इसमें दस प्रश्न किये गये हैं और उनका उत्तर दिया गया है, ५. मङ्गलसुत्त (मङ्गलसूत्र)—इसमें नाना प्रकार के मङ्गल कार्यों को करनेवाले प्राणियों को सर्वोत्तम मङ्गल के विषय में बतलाया गया है, ६. रतनसुत्तं (रत्नसूत्रम्)—इसमें बुद्ध, धम्म एवं संघ—इन तीन रत्नों की महिमा का वर्णन है, ७. तिरोकुड्डसुत्तं (तिरोकुडचसूत्रम्)—इसमें बतलाया गया है कि श्राद्ध के लिये लालायित प्रेतात्माएँ अपने घरों के दरवाजे पर आकर खड़ी हो जाती हैं तथा सुप्रतिष्ठित संघ को दिये गये दान से वे तृप्त हो जाती हैं। लंका एवं स्याम में अन्त्येष्टि के समय इस सुत्त की कुछ गाथाओं का पाठ आज भी किया जाता है, ८. निधिकंडसुत्तं (निधिकाण्डसूत्रम्)—इसमें दान, शील, संयम आदि गुणों को सर्वोत्तम निधि बतलाया गया है, ९. मेत्तसुत्तं (मैत्रीसूत्रम्)—इसमें विश्वव्यापी मैत्री का उपदेश है।

उपर्युक्त नौ पाठों में से निधिकण्डसुत्त को छोड़कर शेष आठ पाठ किसी न किसी रूप में अन्यत्र उपलब्ध होते हैं। उदाहरणस्वरूप मंगलसुत्त, रतनसुत्त एवं मेत्तसुत्त सुत्तनिपात में भी हैं, सरणत्तयं एवं दससिक्खापदं का मूलाधार विनयपिटक है, तिरोकुड्डसुत्त पेतवत्थु में भी है, कुमारपञ्हा का मूलस्रोत संगीतिपरियायसुत्त एवं दसुत्तरसुत्त हैं और द्वत्तिसाकारो का स्रोत सतिपट्ठानसुत्त है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि खुद्दकपाठ श्रामणेरों के लिए बनायी गयी एक लघु पुस्तिका है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परित्त के तीस सुत्तों में से सात खुद्दकपाठ के हैं। यह परित्तनामक संग्रह बौद्ध-जगत् में अत्यधिक प्रसिद्ध है। परित्त का अर्थ होता है—परित्राण या रक्षा। बौद्धों का विश्वास है कि परित्त के पाठ से रोग से मुक्ति और उपद्रवों की शान्ति होती है। परित्त का महत्त्व भी अप्रकट रूप से खुद्दकपाठ के महत्त्व को प्रदर्शित करता है।

२. धम्मपद

धम्मपद पालि-साहित्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता के कारण ही इसे बौद्धों की गीता कहा जाता है। इसमें निहित नैतिक

शिक्षा के महत्त्व का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि इसका अन्य अनेक भाषाओं में अनुवाद किया जा चुका है। लंका में यह श्रामणेरों का प्रमुख पाठ्यग्रन्थ है। इतना ही नहीं, अपितु जब तक श्रामणेर धम्मपद को प्रारम्भ से अन्त तक कण्ठस्थ न कर ले तब तक उसे उपसम्पदा नहीं दी जाती है। बौद्ध धर्म के ऊपर व्याख्यान देनेवाले विद्वज्जन प्रायः धम्मपद की गाथाओं का उद्धरण देते देखे जा सकते हैं। यह तथ्य बौद्ध धर्म में धम्मपद के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

धम्मपद में ४२३ गाथाएँ हैं और वे २६ वग्गों में विभक्त हैं। यह विभाजन विषय या उपमा के आधार पर किया गया है। किसी विषयविशेष से सम्बद्ध वग्ग की समस्त गाथाएँ अपने-आपमें एक स्वतन्त्र लघुकाव्य प्रतीत होता है। इसकी अधिकांश गाथाएँ पालि तिपिटक के विभिन्न स्थलों से संकलित की गयी हैं, किन्तु कुछ गाथाएँ भारतीय संस्कृति के उन स्रोतों से ली गयी हैं जो निश्चय ही तिपिटक से भिन्न थे। इन गाथाओं को वग्गों में व्यवस्थित करने का पूरा श्रेय संकलनकर्ता को जाता है।

इस सुभाषितरत्न धम्मपद के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता है, अवैर से ही वैर शान्त होता है—यही सनातन धर्म है।"

"कथनानुसार आचरण न करनेवाला पुरुष दूसरों की गायों को चरानेवाले ग्वाले की भाँति है।"

"यदि मूर्ख जीवनभर पण्डित के साथ रहे, तो भी वह धर्म को वैसे ही नहीं जान सकता है जैसे कि करछुली दाल के रस को।"

"यदि विज्ञ पुरुष एक मुहूर्त भी पण्डित की सेवा करे तो वह शीघ्र ही उसी प्रकार धर्म को जान लेता है जिस प्रकार जीभ दाल के रस को।" इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धम्मपद की गाथाओं में सार्वभौम नैतिकता की शिक्षा विद्यमान है। इस शिक्षा को किसी धर्म या वर्ग के संकीर्ण दायरे में नहीं बांधा जा सकता है। यही इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि और लोकप्रियता का रहस्य है।

३. उदान

उदान खुद्दकनिकाय का तीसरा लघु ग्रन्थ है। इसमें ८० सुत्त हैं जो १०-१० सुत्त के हिसाब से आठ वग्गों में विभक्त हैं। उदान शब्द का अर्थ होता है—सन्तों के मुख से निकला हुआ अनायास प्रीतिवाक्य। उदान में ऐसे ही प्रीति-वाक्यों का संग्रह है। इसके सुत्तों की शैली प्रायः एक जैसी है। प्रत्येक सुत्त में पहले

उस कथानक का वर्णन गद्य में आता है जिसने उदान (प्रीतिवाक्य) कहने की प्रेरणा दी और अन्त में प्रायः गाथा में उदान का अवतरण होता है। उदान के पूर्व यह वाक्य पाया जाता है—"अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमं उदानं उदानेसि" अर्थात् इसके बाद भगवान् ने उस बात को जानकर उस समय इस प्रीति-वाक्य को कहा।

उदान में केवल उन्हीं प्रीतिवाक्यों का उल्लेख है जो भगवान् बुद्ध के मुख से अनायास निकले थे। तिपिटक के अन्य स्थलों पर भी प्रीतिवाक्य प्राप्त होते हैं लेकिन वहाँ सभी प्रीतिवाक्य बुद्ध से सम्बद्ध न होकर राजा, देवता, श्रेष्ठिपुत्र आदि के मुख से निकले हुए हैं। उदान में अनेक सुत्तों में बुद्ध के जीवन का कुछ अंश वर्णित है और वह विनयपिटक एवं महापरिनिब्बानसुत्त से बहुत-कुछ साम्य भी रखता है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उदान की विषयवस्तु विनयपिटक या महापरिनिब्बानसुत्त से ली गयी है। उदान का भी वही स्रोत है जो विनयपिटक या महापरिनिब्बानसुत्त का है।

उदान में आये प्रीतिवाक्यों का सम्बन्ध बुद्ध से है किन्तु प्रीतिवाक्यों की भूमिका-स्वरूप जो कथानक प्रस्तुत किया गया है, उसमें अधिकांश संकलनकर्ता की ही देन है। कहीं-कहीं संकलनकर्ता अपने इस कार्य में सफल नहीं हुआ। कारण, कहीं-कहीं अत्यन्त गम्भीर उदान के लिए साधारण-सा भाव व्यक्त करनेवाला कथानक प्राप्त होता है। अन्धों द्वारा हाथी को छूकर उसका तरह-तरह से वर्णन करने का कथानक हिन्दुओं और जैनों के ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध है।

फिर भी कुल मिलाकर देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि उदान में भगवान् बुद्ध के प्रीतिवाक्य गम्भीर एवं शान्तिदायक हैं। सुत्तों के कुछ कथानक भी प्रीतिवाक्यों के समान प्राचीन हैं। इन प्रीतिवाक्यों को पढ़ने से बुद्ध की वाणी का वास्तविक आनन्द मिलता है तथा कथानकों से बुद्ध की जीवनी के कुछ भागों का ज्ञान प्राप्त होता है। इन सभी कारणों से उदान की गणना भी खुद्दकनिकाय के प्राचीन ग्रन्थों में की जाती है।

४. इतिवुत्तक

इतिवुत्तक खुद्दकनिकाय का चौथा ग्रन्थ है। इसमें ११२ लघु आकार के सुत्त हैं, जो चार निपातों में विभक्त हैं। इनमें से एककनिपात में केवल उन्हीं सुत्तों का संकलन है जिनका सम्बन्ध संख्या १ से है। इसी प्रकार दुकनिपात, तिकनिपात एवं चतुक्कनिपात में उन-उन सुत्तों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध संख्या २, ३ तथा ४ से है। इन निपातों में सुत्तों की संख्या क्रमशः २७, २२, ५० तथा १३ है। इस प्रकार शैली की दृष्टि से इतिवुत्तक अंगुत्तरनिकाय के समान प्रतीत होता है।

इतिवुत्तक का अर्थ है—ऐसा कहा गया। इसके प्रत्येक सुत्त का प्रारम्भ 'भगवान् ने यह कहा, अर्हत् ने यह कहा' से प्रारम्भ होता है। उसके बाद गद्य में बुद्ध-वचन कहा गया है। तत्पश्चात् 'भगवान् ने इस अर्थ को कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है' गद्यांश आता है। उसके बाद गाथा दी गई है। इस गाथा में या तो गद्य-भाग का ही अर्थ प्रकारान्तर से कहा गया होता है या फिर वह गद्य-भाग की पूरक होती है। अन्त में पुनः कहा जाता है 'यह अर्थ भी भगवान् के द्वारा कहा गया—ऐसा मैंने सुना।' सुत्तों में प्रारम्भ में और अन्त में जो सामान्य वाक्य आते हैं, उन्हीं-को ध्यान में रखकर इसका नाम इतिवुत्तक रखा गया है।

उदान की इतिवुत्तक से तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि उदान में भगवान् के प्रीतिवाक्य गाथाओं में हैं और उनकी पूर्वभूमिका गद्य में दी गई है। इसके विपरीत इतिवुत्तक में भगवान् के वचन गद्य में हैं और उसे ही बाद में गाथा का रूप दे दिया गया है। अतः उदान में गाथा-भाग और इतिवुत्तक में गद्य-भाग बुद्ध-वचन हैं।

इतिवुत्तक का गद्य सहज एवं स्वाभाविक है। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। इतिवुत्तक के सभी सुत्तों में बुद्ध के नैतिकता से सम्बद्ध उपदेशों का संकलन है।

५. सुत्तनिपात

सुत्तनिपात खुद्दकनिकाय का पाँचवाँ ग्रन्थ है। भाषा एवं विषयवस्तु—दोनों ही दृष्टियों से इसे अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। सम्पूर्ण सुत्तनिपात पाँच वग्गों में विभक्त है। ये वग्ग हैं—उरगवग्ग, चूलवग्ग, महावग्ग, अट्ठकवग्ग तथा पारायन-वग्ग। इनमें से प्रथम चार वग्गों में क्रमशः १२, १४, १२ तथा १६ सुत्त हैं, जब कि अन्तिम वग्ग में बावरी के १६ शिष्यों का बुद्ध के साथ संलाप है। ये सभी शिष्य क्रमशः बुद्ध से पूछते हैं और बुद्ध अपने उत्तरों से उन्हें सन्तुष्ट करते हैं।

उक्त पाँच वग्गों में से अट्ठकवग्ग एवं पारायनवग्ग पर टीका है जो 'निद्देस' नाम से तिपिटक का ही अंग बन गयी है। उदान से ज्ञात होता है कि 'सोणकुटिकण्ण' ने भगवान् के समक्ष सम्पूर्ण अट्ठकवग्ग का पाठ किया था और भगवान् ने उसकी सराहना की थी। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि सुत्तनिपात के कुछ अंश बुद्ध-काल में भी प्रसिद्ध थे। सुत्तनिपात की विषयवस्तु के कारण उसका स्थान बड़ा ही सम्मानपूर्ण रहा है। अशोक के भाब्रू शिलालेख में जिन सात बुद्धोपदेशों का उल्लेख किया गया है, उनमें तीन सुत्तनिपात के हैं। बौद्ध धर्म को अपने मौलिक रूप में समझने के लिए सुत्तनिपात एक आदर्श ग्रन्थ है। इसके सुत्तों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का हृदयस्पर्शी ढंग से विवेचन किया गया है।

बुद्धकालीन समाज एवं संस्कृति का चित्रण भी इसके सुत्तों में किया गया है। धनियसुत्त में एक किसान के सुखी जीवन का सुन्दर निरूपण है। कसिभारद्वाजसुत्त में बुद्ध द्वारा आध्यात्मिक खेती का विवेचन कृषिभारद्वाज की आँख खोल देता है और वह बुद्ध का शिष्य वन जाता है। वसलसुत्त में बड़े ही सुन्दर ढंग से जातिवाद का खण्डन किया गया है। पब्बज्जासुत्त एवं पधानसुत्त में बुद्ध के प्रव्रजित होने के समय से मार-विजय तक की जीवन-घटनाओं का महत्त्वपूर्ण वर्णन है।

सुत्तनिपात के अधिकांश सुत्त गाथाओं में हैं। कहीं-कहीं गाथाओं के पूर्व भूमिका के रूप में गद्य-भाग भी दृष्टिगोचर होता है। इसकी भाषा पर छान्दस (वैदिक) भाषा का प्रभाव है। गाथाओं में प्रायः अनुष्टुभ, त्रिष्टुभ एवं जगती छन्दों का प्रयोग देखा जाता है। छन्दों में गणों का विचार नहीं है। कहीं-कहीं अनुष्टुभ तथा त्रिष्टुभ छन्दों में प्रयुक्त गाथाओं में छः पाद से लेकर आठ पाद तक उपलब्ध होते हैं। अतः भाषा एवं छन्द की स्वतन्त्रता से यह ग्रन्थ अतिप्राचीन सिद्ध होता है। सारांश यह कि खुद्दकनिकाय के प्रथम चार ग्रन्थों में कतिपय अंशों से जिस प्राचीनता का आभास होता है, वह सुत्तनिपात में स्पष्ट झलकती है।

६-७. विमानवत्थु एवं पेतवत्थु

खुद्दकनिकाय के छठे एवं सातवें ग्रन्थों के रूप में विमानवत्थु एवं पेतवत्थु आते हैं। यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ अलग-अलग हैं, किन्तु विषय एवं शैली में साम्य होने के कारण इनका वर्णन साथ-साथ किया जाता है।

ये दोनों ग्रन्थ गाथाओं में हैं। विमानवत्थु में देवताओं के विमान (चलते आवासों) के वैभव का वर्णन है। पेतवत्थु में प्रेतों की स्थिति का वर्णन है। विमानवत्थु में १२८९ गाथाओं में ८३ विमानों की कथा का वर्णन है। ये सभी सात वग्गों में विभक्त हैं। पेतवत्थु में ८१४ गाथाओं में ५१ कथाएँ वर्णित हैं तथा ये चार वग्गों में विभक्त हैं।

विमानवत्थु मुख्यतः दो भागों में विभक्त है—इत्थिविमान एवं पुरिसविमान। स्त्रियों की देवभूमियों का वर्णन इत्थिविमान में है, जब कि पुरुष देवभूमियों का वर्णन पुरिसविमान में है। एक ऋद्धिशाली भिक्षु तत्तद् देव या देवी से प्रश्न करता है कि तुम्हें यह सुख और गौरव कैसे प्राप्त हुआ। उत्तर में देव या देवी उन पुण्यकर्मों का उल्लेख करता है, जिनके फलस्वरूप उसे वह स्थिति प्राप्त हुई है। इसी प्रकार कोई ऋद्धिशाली भिक्षु प्रेत या प्रेती से प्रश्न करता है और उत्तर में वह अपने पूर्वजन्म में किये दुष्कर्मों का वर्णन करता है।

इस प्रकार विमानवत्थु एवं पेतवत्थु में कथाओं के माध्यम से तिपिटक में बिखरे

हुए कर्म-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया गया है। इतना होने पर भी ये दोनों ग्रन्थ मूल बुद्ध-वचनों में नहीं रखे जा सकते, क्योंकि इनका संकलन या प्रणयन बुद्ध के परिनिर्वाण के बहुत बाद में हुआ है। प्रमाणस्वरूप पेतवत्थु में राजा पिङ्गलक का वर्णन है, जो बुद्ध के २०० वर्ष बाद हुआ था।

इन दोनों ग्रन्थों का प्रणयन गृहस्थों के लिए किया गया जान पड़ता है। कारण, भिक्षु का आदर्श स्वर्ग न होकर निर्वाण होता है तथा स्रोतापन्न होने पर उसकी नरक में उत्पत्ति सम्भव नहीं रह जाती है।

बौद्ध-साहित्य में स्वर्ग तथा नरक की पौराणिक कल्पनाओं के अध्ययन के लिए ये दोनों ग्रन्थ प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

८-९. थेरगाथा एवं थेरीगाथा

विमानवत्थु एवं पेतवत्थु के समान ही थेरगाथा तथा थेरीगाथा—ये दोनों ग्रन्थ गाथाओं में हैं। इनमें बुद्धकालीन थेरों (स्थविरों) तथा थेरियों (स्थविरियों) की गाथाओं का संकलन है। थेरगाथा में १२७९ गाथाएँ हैं। इन्हें २१ निपातों में विभक्त किया गया है। निपातों के नाम उसमें संकलित गाथाओं की संख्या के अनुरूप हैं, उदाहरणस्वरूप पहले निपात में एक-एक गाथा होने से उसका नाम एककनिपात है, सोलहवें निपात में बीस-बीस गाथाएँ होने से उसे वीसतिनिपात कहा गया है। इसी प्रकार २०वें निपात में ६० गाथाओंवाले महामोग्गल्लान थेर के उद्गार होने से उसका नाम सट्ठिनिपात रखा गया है। अन्तिम निपात में वङ्गीस थेर की ७० गाथाओं का संकलन है, जिसे महानिपात कहा गया है।

थेरीगाथा में १६ निपातों में विभक्त ५२२ गाथाएँ हैं। इनमें ७३ थेरियों (स्थविरियों) के उद्गार हैं। थेरीगाथा में भी गाथाओं की संख्या के अनुसार निपातों के नाम हैं। उदाहरणस्वरूप १२वें से १५वें निपातों में क्रमशः १६, २०, ३० तथा ४० गाथाओं में थेरियों के उद्गार हैं, अतः उन्हें सोळसनिपात, वीसतिनिपात, तिंस-निपात तथा चत्तालीसनिपात कहा गया है। अन्तिम निपात में ७५ गाथाएँ हैं और उसका नाम महानिपात है।

वैसे तो थेरगाथा एवं थेरीगाथा में थेर एवं थेरियों के अपने उद्गार हैं, किन्तु बुद्ध-धर्म के प्राचीन रूप के साथ-साथ ई० पू० छठी शताब्दी में की गयी कविता का सुन्दर रूप इनमें उपलब्ध होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विषय की दृष्टि से थेरगाथा से थेरीगाथा में कुछ भिन्नता है। थेरगाथा में भिक्षु को संसार की असारता का या प्रकृति का वर्णन करते हुए देखा जाता है, किन्तु थेरीगाथा में भिक्षुणियों को अपने ऊपर बीती हुई घटना का स्मरण करते देखा जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से थेरीगाथा की गाथाएँ करुणपक्ष प्रस्तुत करने से अधिक मार्मिक हैं।

यद्यपि थेरगाथा एवं थेरीगाथा को बुद्धकालीन थेर एवं थेरियों की गाथा कहा गया है, किन्तु कुछ गाथाएँ प्राप्त अवशेषों के आधार पर संकलनकर्ताओं की कृति मानी जाती हैं। जर्मन विद्वान् के० ई० म्यूमन ने सम्पूर्ण थेरगाथा एवं थेरीगाथा को व्यक्तिविशेषों की रचना बतलाने का भी प्रयास किया है, किन्तु इसे विद्वानों ने पूर्ण रूप से अमान्य कर दिया है।

१०. जातक

जातक खुद्दकनिकाय का दसवाँ ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं का संकलन है। जातक-कथा को पाँच भागों में विभक्त किया जाता है— १. पच्चुप्पन्नवत्थु (बुद्ध के जीवनकाल की घटना), २. अतीतवत्थु (उक्त घटना के आधार पर अतीत जन्म की कथा), ३. गाथा (अतीत जन्म की कथा के बाद भगवान् बुद्ध के उद्गार जो गाथा में अभिव्यक्त हैं), ४. अत्थवण्णना (गाथा की व्याख्या) और ५. समोधान (अतीत कथा के पात्रों का वर्तमान काल के पात्रों से सम्बन्ध बतलाना)। इन पाँच भागों में गाथा-भाग प्राचीन है और उसे ही तिपिटक में बुद्ध-वचन के रूप में सम्मिलित किया गया है। सम्भवतः बुद्ध-युग में ये कथाएँ इतनी प्रचलित रही हैं कि गाथामात्र के सुनने से कथाएँ समझ में आ जाती थीं, किन्तु आज वे कथाएँ स्मृतिपटल से लुप्त हो गयी हैं। अतः जब तक अट्ठकथा के शेष भागों को सम्मिलित न किया जाय तब तक गाथा-भाग का स्पष्ट अर्थ समझ में नहीं आता है।

जातक-कथाओं की संख्या ५४७ है। प्रारम्भ में ये जातक-कथाएँ कम थीं, किन्तु आगे चलकर इनमें वृद्धि हुई और त्रिपिटक को अन्तिम रूप देने के समय तक इनकी संख्या ५४७ हो गयी।

जातक की विषयवस्तु का वर्गीकरण भी थेरगाथा और थेरीगाथा के समान निपातों में किया गया है। एककनिपात में १५० ऐसी जातकों का संकलन है, जिनमें केवल एक-एक ही गाथा है। इसी प्रकार दुकनिपात में १०० ऐसी जातकों का संकलन है, जिनमें दो-दो गाथाएँ हैं। कहीं-कहीं गाथाओं की संख्या निपात के नाम के अनुसार न होकर अधिक है। उदाहरणस्वरूप सत्ततिनिपात की दो जातकों में गाथाओं की संख्या ७०-७० न होकर क्रमशः ९२ तथा ९३ है। इससे यह स्पष्ट है कि गाथाओं में भी बाद में वृद्धि हुई है। अतः सभी गाथाओं को समान रूप से प्राचीन नहीं माना जा सकता है।

जातक की कथाओं को मुख्य रूप से सात भागों में विभक्त किया जा सकता है।— १. व्यावहारिक नीतिसम्बन्धी कथाएँ, २. पशुओं की कथाएँ, ३. हास्य और विनोद

से परिपूर्ण कथाएँ, ४. रोमांचकारी लम्बी कथाएँ, ५. नैतिक वर्णन प्रस्तुत करनेवाली कथाएँ, ६. बुद्ध-कथन को प्रस्तुत करनेवाली कथाएँ तथा ७. धर्मसम्बन्धी कथाएँ।

इन सभी जातक-कथाओं का अध्ययन करने से बुद्धकालीन भारत के समाज, संस्कृति, राजनीति, भूगोल, व्यापारिक स्थिति आदि विषयों की विपुल सामग्री प्राप्त होती है। फलतः जातक-कथाओं के आधार पर प्राचीन या बुद्धकालीन भारत पर अनेक उपयोगी ग्रन्थ लिखे गये हैं। पालि छन्दशास्त्र पर शोध करनेवाले छात्रों को जातक के गाथा-भाग से महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है।

११. निद्देस

खुद्दकनिकाय का यह ग्यारहवाँ ग्रन्थ है। यह दो भागों में विभक्त है—चुल्लनिद्देस तथा महानिद्देस। चुल्लनिद्देस में सुत्तनिपात के पारायनवग्ग तथा खग्गविसाणसुत्त की व्याख्या है, जब कि महानिद्देस में सुत्तनिपात के ही अट्ठकवग्ग की व्याख्या है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने मत व्यक्त किया है कि निद्देस मूलतः खुद्दकनिकाय के अन्य ग्रन्थों से भिन्न है तथा इसकी गणना अट्ठकथा-साहित्य में होनी चाहिये।

निद्देस में उपलब्ध व्याख्या सारिपुत्त की रचना बतलायी जाती है। चूंकि सारिपुत्त भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य थे और उनका निर्वाण भगवान् बुद्ध से पहले हुआ था, अतः निद्देस में उपलब्ध सुत्तनिपात के कुछ भाग की व्याख्या प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और सम्भव है कि इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का सम्मान करने के लिए इसे खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों में सम्मिलित किया गया हो।

महानिद्देस में बहुत से ऐसे देशों एवं बन्दरगाहों का उल्लेख है, जिनका प्राचीन भारत के व्यापार में महत्त्वपूर्ण योगदान था। अतः भौगोलिक दृष्टि से महानिद्देस का विशेष महत्त्व है।

१२. पटिसम्भिदामग्ग

यह खुद्दकनिकाय का बारहवाँ ग्रन्थ है। इसमें अर्हत् के प्रतिसंवित्-सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। पटिसम्भिदा का अर्थ है प्रभेद। यह चार प्रकार का है—अत्थपटिसम्भिदा, धम्मपटिसम्भिदा, निरुत्तिपटिसम्भिदा और पटिभानपटिसम्भिदा। इन पटिसम्भिदाओं की ओर ले जानेवाले मार्ग को पटिसम्भिदामग्ग कहा जाता है। यह तीन वग्गों में विभक्त है। इनमें से प्रत्येक वग्ग में दस-दस ज्ञान-कथाएँ हैं। विषय और शैली—दोनों ही दृष्टियों में यह ग्रन्थ अभिधम्मपिटक के अधिक समीप है।

१३. अपदान

यह खुद्दकनिकाय का तेरहवाँ ग्रन्थ है। अपदान का अर्थ है—जीवनवृत्त।

इसमें बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, प्रमुख शिष्यों एवं अनेक अर्हतों का जीवनवृत्त है, अतः इसे अपदान कहा जाता है। इसे दो भागों में विभक्त किया गया है—थेरापदान और थेरी-अपदान। थेरापदान में ५५ वग्ग हैं और प्रत्येक वग्ग में १० अपदान हैं, जब कि थेरी-अपदान में ४ वग्ग हैं और प्रत्येक वग्ग में १० अपदान हैं। जातक तथा अपदान में यही अन्तर है कि जातक में बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं, जब कि अपदान में स्थविरों एवं स्थविरियों के पूर्वजन्म की भी कथाएँ हैं।

१४. बुद्धवंस

खुद्दकनिकाय का यह चौदहवाँ ग्रन्थ है। इसमें २८ परिच्छेद हैं। इसमें गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों की जीवनियों का वर्णन है। गौतम बुद्ध को छोड़कर शेष बुद्धों की जीवनियों का वर्णन पौराणिक ढंग से किया गया है।

१५. चरियापिटक

यह खुद्दकनिकाय का पन्द्रहवाँ ग्रन्थ है। यह तीन भागों में विभक्त है—अकित्तिवग्ग, हत्थिवग्ग तथा युधञ्जयवग्ग। इसमें क्रमशः बोधिसत्त्व में ३५ चर्चाओं का वर्णन है।

यद्यपि बुद्ध-शासन में १० पारमिताओं का उल्लेख मिलता है जिन्हें बोधि के लिए प्रयासरत बोधिसत्त्व प्राप्त करता है, किन्तु चरियापिटक में इनमें से केवल सात पारमिताओं का ही उल्लेख मिलता है। चरियापिटक में उपलब्ध चरियाओं में से महागोविन्दचरिया को छोड़कर शेष सभी जातक में भी उपलब्ध होती हैं। कुछ विद्वान् चरियापिटक को किसी भिक्षु की रचना बतलाते हैं जो अच्छा कवि था।



चौथा अध्याय

विनयपिटक

विनयपिटक तिपिटक का दूसरा बड़ा भाग है। विनय का अर्थ है—नियम। भगवान् बुद्ध ने संघ के सदस्यों (भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों) के आचरण को शुद्ध रखने के लिये जिन नियमों का विधान किया था, उन्हीं नियमों एवं उनकी व्याख्या का संकलन विनयपिटक में किया गया है। इसलिए विनयपिटक को बुद्ध के संघ का संविधान या आचार-संहिता कह सकते हैं। यदि सामान्य पुरुष इन नियमों के पूर्व-प्रसंग को पढ़े तो उसे भिक्षुओं या भिक्षुणियों के आचार में गिरावट का आभास सहज ही हो सकता है। इसीलिये प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व इन नियमों के पढ़ने का कहीं-कहीं निषेध किया गया है। उसका भाव यही है कि इन नियमों के वास्तविक महत्त्व को वही व्यक्ति समझ सकता है, जिसने विधिपूर्वक प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा ग्रहण की हो। चूंकि बुद्ध द्वारा संस्थापित संघ की स्थिति इन्हीं विनयसम्बन्धी नियमों के पालन पर निर्भर है, अतः तिपिटक में विनयपिटक को प्रमुख माना जाता है। विनयपिटक में भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए बनाये गये नियमों के अतिरिक्त बुद्ध के संघ के उद्भव एवं विकास का इतिहास भी संकलित है।

विभाजन—विनयपिटक निम्नलिखित भागों में विभक्त है—

१. सुत्तविभङ्ग।
   (क) पाराजिक
   (ख) पाचित्तिय

२. खन्धक
   (क) महावग्ग
   (ख) चुल्लवग्ग

३. परिवार

१. सुत्तविभङ्ग

सुत्तविभङ्ग सुत्त और विभङ्ग—इन दो शब्दों के योग से बना है। यहाँ सुत्त शब्द का अर्थ पातिमोक्ख का भाग या प्रकरण है तथा विभङ्ग का अर्थ व्याख्या है। इस प्रकार सुत्तविभङ्ग का अर्थ पातिमोक्ख के प्रकरणों की व्याख्या है। अतः सुत्तविभङ्ग के विषय में कहने के पूर्व पातिमोक्ख की जानकारी देना आवश्यक है।

पातिमोक्ख—यह विनयपिटक का सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ है। वस्तुतः यह विनयपिटक का मूल है। पातिमोक्ख शब्द की व्युत्पत्ति नाना प्रकार से की जाती है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ अतिश्रेष्ठ या अतिउत्तम (प + अति + मोक्खं = अति + पमोक्खं) है, अर्थात् जो अतिश्रेष्ठ धर्म अपने पालन करनेवाले को सांसारिक दुःखों से मुक्त कर देता है, उसे पातिमोक्ख कहते हैं। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'पाती' का अर्थ है—पतनशील साधारण व्यक्ति या कर्मवश संसार में भटकनेवाला सत्त्व अथवा मरणपूर्वक तत्तत् सत्त्वनिकाय में गिरानेवाला चित्त, तृष्णा आदि संक्लेश, आयतन, और संसार आदि। अतः जो इनसे रक्षा करता है उसे पातिमोक्ख कहते हैं। तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार पाति का अर्थ धर्म के ईश्वर भगवान् बुद्ध किया जाता है। फलतः भगवान् बुद्ध जिससे प्राणियों को मुक्त करते हैं, उसे पातिमोक्ख कहते हैं। कुछ विद्वान् पातिमोक्ख को प्रातिमोक्ष्य का समानार्थक मानकर उसका अर्थ उन नियमों से लगाते हैं, जिनसे आबद्ध रहना प्रत्येक भिक्षु या भिक्षुणी के लिये आवश्यक होता है। अतः इस परिभाषा के अनुसार उन नियमों के समूह को पातिमोक्ख कहा जाता है, जिनसे भिक्षु या भिक्षुणी बँधा रहता है।

पातिमोक्ख में विहित नियमों को भगवान् बुद्ध ने एक साथ नहीं बनाया, अपितु जब-जब जैसी प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होती गयी, उसके निवारण हेतु तत्-तत् समयों में अलग-अलग नियमों का विधान किया जाता रहा है। पातिमोक्ख में निहित नियम ही भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ के नियन्त्रक हो गये हैं। कारण, भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण को प्राप्त करने के पूर्व किसीको भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया, अपितु संघ को पातिमोक्ख एवं शिक्षापदों के नियमों के सहारे चलने का निर्देश दिया था।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ के प्रत्येक सदस्य (भिक्षु एवं भिक्षुणी) के चरित्र की शुद्धता एवं आचरण का नियमन पातिमोक्ख में कथित नियमों से ही होता चला आ रहा है।

पातिमोक्ख के नियमों के पालन की विधि इस प्रकार है—प्रत्येक मास की चतुर्दशी एवं पूर्णिमा के दिन एक निश्चित सीमा के अन्दर रहनेवाले सभी भिक्षु एक जगह मिलते हैं। जिस स्थान पर भिक्षुओं को एकत्रित होना होता है, उसे पहले से ही झाड़-बुहारकर आसन, दीप, जल आदि का आवश्यक प्रबन्ध कर लिया जाता है। एकत्रित होने के बाद सभी भिक्षु किसी एक भिक्षु को, जो स्वयं पातिमोक्ख संवर में प्रवीण, बहुश्रुत तथा सन्तोषी होता है, चुनते हैं। वह पातिमोक्ख का पाठ करता है। पातिमोक्ख के प्रत्येक अध्याय के पाठ के बाद भिक्षुओं से पूछा जाता है कि यदि कोई उस अध्याय से सम्बद्ध नियमों के उल्लंघन का दोषी हो तो बतलाये,

अन्यथा चुप रहे। अपराधी भिक्षु अपना अपराध स्वीकार करता है और उसको उस अपराध की शुद्धि के लिए निश्चित दण्ड दिया जाता है। यदि भिक्षु चुपचाप रहता है तो उसे उस प्रकार के अपराध से शुद्ध मान लिया जाता है। इसी पातिमोक्ख की आवृत्ति को बौद्ध संघ का उपोसथ (उपवसथ = उपवास) कर्म कहा जाता है। इस प्रकार के उपोसथ (उपवास) का विधान राजा बिम्बिसार के कहने पर भगवान् बुद्ध ने स्वयं किया था। तभी से आज तक संघ में शुद्धि के लिये यह उपोसथ की परम्परा चली आ रही है।

पातिमोक्ख की विषयवस्तु—विषयवस्तु की दृष्टि से पातिमोक्ख दो भागों में विभक्त है—भिक्खुपातिमोक्ख एवं भिक्खुनीपातिमोक्ख। प्रथम भाग में भिक्षुओं के लिये आठ विभागों में विभक्त २२७ नियमों का उल्लेख है, जब कि द्वितीय भाग में भिक्षुणियों से सम्बद्ध सात विभागों में विभक्त ३११ नियमों का समावेश किया गया है। इन दोनों भागों के नियमों की विभागानुसार संख्या तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रकार है—

विभाग	भिक्खुपातिमोक्ख	भिक्खुनीपातिमोक्ख
पाराजिक	४	८
संघादिसेस	१३	१७
अनियत	२	×
निस्सग्गियपाचित्तिय	३०	३०
पाचित्तिय	९२	१६६
पाटिदेसनीय	४	८
सेखिय	७५	७५
अधिकरणसमथ	७	७
	२२७	३११

पातिमोक्ख के नियमों की संख्या पर कुछ लिखने के पूर्व विभागों के नामकरण को स्पष्ट करना आवश्यक है। पाराजिक-विभाग में वे अपराध उल्लिखित हैं, जिन्हें करने से भिक्षु या भिक्षुणी की पराजय हो जाती है और उन्हें सदा के लिए संघ से निकाल दिया जाता है। संघादिसेस-विभाग में उन अपराधों की सूची है, जिनके दण्ड का प्रारम्भ एवं अन्त संघ की अनुमतिपूर्वक होता है। यद्यपि इस विभाग के अपराध पाराजिक-विभाग के अपराध जैसे अक्षम्य नहीं होते हैं, फिर भी इन अपराधों को करनेवाले भिक्षु या भिक्षुणी को कुछ दिनों के लिए संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। निष्कासन की निश्चित अवधि पूर्ण होने पर अपराधी भिक्षु या भिक्षुणी को पुनः

संघ के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। अनियत-विभाग में ऐसे अपराधों की गणना है जिनका स्वरूप अनिश्चित होता है। किसी विश्वासपात्रा उपासिका द्वारा साक्ष्य प्रस्तुत करने पर ऐसे अपराधों को पाराजिक, संघादिसेस अथवा पाचित्तिय के रूप में निश्चित कर तदनुसार दण्ड का विधान किया जाता है। निस्सग्गियपाचित्तिय-विभाग में ऐसे अपराधों की गणना है, जिन्हें स्वीकार कर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु के सम्बन्ध में वह अपराध किया गया है, वह वस्तु भी सम्बद्ध भिक्षु या भिक्षुणी से छीन ली जाती है। इस प्रकार के अपराधों में प्रायः सभी वस्त्रसम्बन्धी हैं, केवल दो का सम्बन्ध पात्र से है। पाचित्तिय-विभाग में ऐसे अपराधों का समावेश होता है जिन्हें करने पर प्रायश्चित्त करने के बाद भिक्षु या भिक्षुणी को अपराध-मुक्त कर दिया जाता है। इनमें झूठ बोलना, गाली देना, चुगली करना नशीली वस्तुओं का सेवन करना आदि अपराधों की गणना की गयी है। पाटिदसनीय-विभाग में वे अपराध आते हैं, जिन्हें स्वीकार कर लेने तथा भविष्य में न करने का संकल्प व्यक्त करने पर दोषी भिक्षु या भिक्षुणी दोषमुक्त हो जाता है। सेखिय-विभाग के अन्तर्गत उन नियमों का उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध बाह्य शिष्टाचार से होता है। चूँकि संघ के सदस्य को कुछ सीमा तक समाज पर निर्भर रहना पड़ता है, अतः उसे शिष्टाचार का पालन करना आवश्यक है। जब संघ का सदस्य भिक्षा के लिए समाज में जाता है तो उसके व्यवहार से समाज में संघ के प्रति अनास्था न हो--इसी बात को ध्यान में रखकर सेखिय नियमों का विधान किया गया है। अधिकरणसमथ–विभाग में संघ में कलह उत्पन्न होने पर उसे शान्त करने के विभिन्न उपायों का विधान है। चूँकि बुद्ध के संघ की व्यवस्था राजनीतिक अथवा सामाजिक नियन्त्रण से मुक्त थी, अतः संघीय कलह को निपटाने के लिये संघ अपने नियमों का उपयोग स्वयं करता था। उन्हीं नियमों की गणना अन्तिम विभाग में है।

पातिमोक्ख के विभागों के क्रम को गम्भीरतापूर्वक सोच-विचारकर रखा गया है सबसे पहले पाराजिक-विभाग के नियमों का उल्लेख है। कारण, इसके अन्तर्गत गिनाये गये अपराध सबसे गम्भीर माने जाते हैं।

जहाँ तक पातिमोक्ख के नियमों की संख्या का प्रश्न है, कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में इनकी संख्या १५२ थी। सम्भवतः २२७ नियमों में से सेखिय के ७५ नियम हटाकर यह संख्या व्यक्त की गयी है। तथ्य यह है कि सेखिय में अपराधों की गणना न होकर केवल नियमों का विधान है।

सुत्तविभङ्ग में पातिमोक्ख में उल्लिखित अपराधों में से प्रत्येक अपराध की व्याख्या एक कहानी से प्रारम्भ होती है। इसे वत्थु कहा गया है। इसका नामकरण उस अपराध को करनेवाले प्रथम अपराधी के नाम से हुआ है। उसी प्रथम अपराधी

के लिए भगवान् बुद्ध ने जिस विधान की घोषणा की, उसे पञ्ञत्ति कहा गया है। उसके बाद फिर किसी घटना से उस विधान में संशोधन या संवर्द्धन किया गया है तो उसे अनुपञ्ञत्ति शब्द से कहा गया है। इस प्रकार के संशोधनों एवं संवर्द्धनों के अनन्तर जब उस अपराध एवं दण्डसम्बन्धी विधान ने अपना अन्तिम रूप ग्रहण किया तो उसे शिक्षापद की संज्ञा दी गयी। इसके बाद शिक्षापद के अन्तर्गत आनेवाले प्रत्येक शब्द की व्याख्या की गयी है, जिसे विभङ्ग कहते हैं। तत्पश्चात् अन्य उदाहरणों की छन्दोबद्ध सूची दी गयी है। इसे विनीतवत्थु उद्दान गाथा कहा गया है। सबसे अन्त में विनीतवत्थु के अन्तर्गत समुचित उदाहरणस्वरूप कथाओं की रूपरेखा दे दी गयी है।

सुत्तविभङ्ग दो भागों में विभक्त है—महाविभङ्ग एवं भिक्खुनीविभङ्ग। महाविभङ्ग भिक्खुपातिमोक्ख की व्याख्या है, जबकि भिक्खुनीविभङ्ग भिक्खुनीपातिमोक्ख की। किन्तु इस विभाजन से सुत्तविभङ्ग का एक भाग बड़ा और दूसरा अत्यधिक छोटे आकार का हो जाता है, अतः दूसरी परम्परा के अनुसार सुत्तविभङ्ग को पाराजिक एवं पाचित्तिय—इन दो भागों में विभक्त किया गया है। इस विभाजन से सम्पूर्ण सुत्तविभङ्ग दो सन्तुलित भागों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार के विभाजन से पाराजिक-नामक भाग में भिक्खुपातिमोक्ख के पाराजिक-विभाग से लेकर निस्सग्गियपाचित्तिय-विभाग तक के शिक्षापदों की व्याख्या आती है, जब कि पाचित्तियनामक भाग में भिक्खुपातिमोक्ख के पाचित्तिय-विभाग से लेकर शेष सभी विभागों की तथा भिक्खुनी-पातिमोक्ख के सभी शिक्षापदों की व्याख्या निहित है। इस प्रकार 'पाराजिक' एवं पाचित्तिय भागों का नामकरण उन विभागों पर आधारित है, जिन विभागों के शिक्षा-पदों की व्याख्या से वे भाग प्रारम्भ होते हैं।

२. खन्धक

यह विनयपिटक का दूसरा भाग है। सामान्यरूप से किसी ग्रन्थ के विभाग या अध्याय को, जिसमें किसी विषय का पूर्ण विवेचन हो, खन्धक कहा जाता है। चूंकि पालि-साहित्य में खन्धक विनय से सम्बद्ध है, अतः यहाँ विनयसम्बन्धी उपसम्पदा, उपोसथ आदि विषयों का विवेचन करनेवाले २० खन्धकों (अध्यायों) के समूह को खन्धक संज्ञा दी गयी है। इनमें से प्रथम दस खन्धकों में विनयसम्बन्धी प्रमुख विषयों का विवेचन है, अतः उन्हें खन्धक के प्रथम ग्रन्थ महावग्ग में रखा गया है। शेष खन्धकों में विनयसम्बन्धी सामान्य विषयों का वर्णन है, फलतः उन्हें खन्धक के द्वितीय ग्रन्थ चुल्लवग्ग में स्थान दिया गया है। चुल्लवग्ग के दसवें खन्धक (अध्याय) में केवल भिक्षुणियों से सम्बद्ध नियमों का विवेचन है। चुल्लवग्ग के ही ग्यारहवें तथा बारहवें खन्धकों में क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय धर्मसंगीतियों का वर्णन है। ये दोनों खन्धक निश्चित रूप से बाद में जोड़ गये हैं।

विषयवस्तु एवं शैली की दृष्टि से खन्धक को सुत्तविभङ्ग का सहायक एवं पूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। खन्धक में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति एवं अलौकिकता से परिपूर्ण वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए ऐसे प्रसंगों की प्रामाणिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार षड्वर्गीय भिक्षुओं के आधार पर बहुत सारे अपराधों को गिनाया जाना भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इन्हीं सब कारणों से कुछ लोग विनयपिटक को सुत्तपिटक के समान प्रामाणिक ग्रन्थ मानने में हिचकिचाते हैं। फिर भी संघ के उद्भव एवं विकास की जितनी विस्तृत जानकारी खन्धक से होती है, उतनी अन्य किसी स्रोत से नहीं होती है। खन्धक से यह भी ज्ञात होता है कि विनयसम्बन्धी विधि-विधान एक साथ नहीं बने, अपितु परिस्थितिवश समय-समय पर बने हैं। उनमें समय-समय पर संशोधन भी हुआ है। इसके अतिरिक्त विनयपिटक के ग्रन्थों से उस समय की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का भी परिचय प्राप्त होता है। सुत्तविभङ्ग की भाँति खन्धक में भी प्रारम्भ में भूमिका के रूप में यह बतलाया गया है कि कब और किस अवसर पर भगवान् बुद्ध ने तत्-तत् नियमों का प्रणयन किया है। अतः विषय एवं शैली की दृष्टि से सुत्तविभङ्ग एवं खन्धक के संकलन में अधिक अन्तराल नहीं होना चाहिये। फिर भी खन्धक निश्चित रूप से सुत्तविभंग के बाद का एवं उसका पूरक ग्रन्थ है।

विषयवस्तु के महत्त्व को ध्यान में रखकर यहाँ महावग्ग एवं चुल्लवग्ग की विशेष विवेचना आवश्यक है।

महावग्ग—इसमें दस खन्धक (अध्याय) हैं जिनकी विषयवस्तु इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय का नाम **महाखन्धक** है। आकार में बड़ा होने से ही इसका यह नाम पड़ा है। इसमें मुख्य रूप से प्रव्रज्या-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। इसी कारण सर्वास्तिवादी इसे प्रव्रज्यावस्तु कहते हैं। इसमें सबसे पहले बुद्ध की बोधिप्राप्ति का वर्णन है। उसके बाद बुद्ध के प्रथम उपासक के रूप में तपस्सु एवं भल्लिक नामक दो बनजारों का उल्लेख है। फिर अपने धर्म की देशनाहेतु बुद्ध का वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में आकर पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को प्रथम धर्मदेशना का उल्लेख है। इसे धम्मचक्कपवत्तनसुत्त के नाम से जाना जाता है। उसके बाद यश श्रेष्ठिपुत्र, उसके चार साथी एवं उनके पचास साथियों की प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा का विवेचन है। तत्पश्चात् संघ का विस्तार होता है। अनुशासन बनाये रखने के लिए उपाध्याय एवं आचार्य-पद की स्थापना हुई तथा प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा में भेद किया गया। प्रव्रज्या का तात्पर्य घर से बेघर हो पीले चीवर पहनने से है। प्रव्रज्या एक भिक्षु भी दे सकता था, किन्तु उपसम्पदा संघ द्वारा ही दी जाती थी। संघ में अनुचित एवं अयोग्य व्यक्तियों की रोक के लिए विभिन्न नियम बनाये गये। इस प्रकार महाखन्धकनामक

इस अध्याय में भिक्षुसंघ की उत्पत्ति एवं विकास तथा प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा से सम्बद्ध नियमों के निर्माण का इतिहास संकलित है।

उपोसथक्खन्धक नामक दूसरे अध्याय में उपोसथ से सम्बद्ध विधि-विधानों का उल्लेख है। उपोसथ शब्द उपवसथ या उपवास का पालि-रूपान्तर है। उस समय के सभी धार्मिक पुरुष विशेष दिनों में उपवास, धर्मोपदेश आदि धार्मिक अनुष्ठान करते थे। प्रारम्भ में बौद्ध-संघ में उपोसथ करने की परम्परा नहीं थी, किन्तु राजा बिम्बिसार के अनुरोध पर भगवान् बुद्ध ने अपने संघ में इसका विधान किया था। इस अध्याय में उपोसथ से सम्बद्ध विभिन्न नियमों का संकलन है। उपोसथ के लिए निश्चित दिन सारे उपसम्पन्न भिक्षु एकत्रित होकर पातिमोक्ख की आवृत्ति तथा किये गये दोषों का प्रतीकार करते हैं।

वस्सूपनायिकक्खन्धक (वर्षोपनायिकास्कन्धक) नामक तीसरे अध्याय में वर्षाकाल में भिक्षुओं को एक जगह रहने का विधान है। यह वर्षावास श्रावणकृष्ण प्रतिपद् या भाद्रकृष्ण प्रतिपद् से प्रारम्भ किया जाता है। सामान्यतः वर्षावास की निश्चित अवधि में भिक्षु अपने आवास को छोड़कर अन्यत्र भ्रमण नहीं करता है, किन्तु आवश्यक कार्य आ पड़ने पर केवल सात दिनों तक के लिए आवास छोड़कर अन्यत्र जाने का विधान है। इसके अतिरिक्त जंगली जानवर, चोर, बाढ़ आदि का खतरा होने पर भी वर्षावास छोड़ा जा सकता है। वृक्ष के नीचे, वृक्ष की खोल में, खुले मैदान में या छाता के नीचे वर्षावास निषिद्ध बतलाया गया है।

पवारणाखन्धक (प्रवारणास्कन्धक) नामक चौथे अध्याय में वर्षावास की समाप्ति के दिन का वर्णन है। तीन मास का वर्षावास समाप्त कर जब भिक्षु अन्यत्र जाने लगते हैं तो गृहस्थ लोग उन्हें नाना वस्तुएँ भेंट करते हैं, इसीलिए इसे प्रवारणा कहा जाता है। उस दिन भिक्षु आपस में वर्षावास में जाने-अनजाने किये गये अपराधों का प्रतीकार करते हैं। इसे प्रवारणाकर्म कहा गया है। इस अध्याय में प्रवारणाकर्म से सम्बद्ध विभिन्न नियमों का संग्रह है।

चम्मक्खन्धक (चर्मस्कन्धक) नामक पाँचवें अध्याय में चर्म की वस्तुओं, विशेषकर जूतों के उपयोग के सम्बन्ध में नियमों का संग्रह है। प्रारम्भ में जूते पहनने का नियम नहीं था। सर्वप्रथम सोण के अनुरोध पर एक तल्ले के जूतों का विधान किया गया। तत्पश्चात् जूतों के रंग एवं प्रकार का विधान किया गया। पुराने जूते होने पर एक से अधिक तल्लेवाले जूतों का भी विधान है। गुरुजनों के नंगे पैर होने पर जूते पहनने का निषेध भी है। इसके अतिरिक्त सवारी, चौकी, चारपाई से सम्बद्ध नियमों का भी विधान है। इसी अध्याय में मध्यदेश के बाहर विशेष नियमों का उल्लेख है। पूर्व में कजंगल से पश्चिम में थूणनामक ब्राह्मणग्राम तक, उत्तर में उशीर-

ध्वज (हिमालय का कोई पर्वत) से लेकर दक्षिण में श्वेतकर्णिक निगम तक के भू-भाग को मध्यदेश माना गया है।

भेसज्जक्खन्धक (भैषज्यस्कन्धक) नामक छठे अध्याय में सर्वप्रथम पाँच भैषज्यों का विधान है। इनमें घी, मक्खन, तैल, मधु तथा खाँड आते हैं। उसके बाद चर्बी, मूल, कषाय पत्ते, फल, गोंद तथा लवणवाली दवाइयों का विधान है। चूर्ण की दवाइयों के प्रसंग में ओखल-मूसल-चलनी सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। इसमें स्वेदकर्म तथा चीरफाड़ से सम्बद्ध अनेक नियमों का उल्लेख है। इस अध्याय में अभक्ष्य मांस की भी चर्चा है, जो सभ्य समाज में सेवनीय नहीं था। गोरस तथा फलरस रखने सम्बन्धी नियम भी है। कुल मिलाकर यह अध्याय चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

कठिनक्खन्धक (कठिनस्कन्धक) नामक सातवें अध्याय में कठिन चीवर से सम्बद्ध नियमों का संकलन है। प्रवारणा के दिन संघ की सम्मतिपूर्वक उपासक किसी एक भिक्षु को विशेष चीवर देकर सम्मानित करते थे। उस चीवर को कठिन चीवर कहते हैं। इस अध्याय में कठिन चीवर-सम्बन्धी विभिन्न नियम होने के कारण इस अध्याय का नाम कठिनक्खन्धक पड़ गया।

चीवरक्खन्धक (चीवरस्कन्धक) नामक आठवें अध्याय में भिक्षुओं के चीवर-सम्बन्धी नियमों का विधान है। प्रारम्भ में जीवक वैद्य के जीवन-चरित का उल्लेख है। एक बार कोसल-नरेश उसे सुन्दर वस्त्र भेंट करते हैं। जीवक उन्हें भगवान् बुद्ध को समर्पित करता है। भगवान् उसे स्वीकार कर चीवर-सम्बन्धी नियमों का विधान करते हैं। इसी अध्याय में एक रोगी भिक्षु का उल्लेख है, जिसे नहलाकर भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि तुम लोगों के माता-पिता नहीं हैं, अतः तुम लोगों को एक-दूसरे की सेवा करनी चाहिये। इसमें रोगी की सेवा को भगवान् ने अपनी सेवा के समान बतलाया है।

चम्पेय्यक्खन्धक (चम्पेयस्कन्धक) नामक नवें अध्याय में चम्पा में कहे गये उपदेश संकलित हैं। इसके अनुसार भिक्षुओं को विधिविरुद्ध आचरण न कर किसी बात पर संघ में एक साथ मिलकर निर्णय करने का विधान है।

कोसम्बकक्खन्धक (कौशम्बकस्कन्धक) नामक अन्तिम अध्याय में शौच के लिए बचे हुए जल को लेकर भिक्षुओं के आपसी वैमनस्य का उल्लेख है। जब बुद्ध उस वैमनस्य को दूर करने में असफल रहे तो उन्होंने संघ का त्याग कर दिया और अकेले अन्यत्र चले गये।

चुल्लवग्ग

विषय एवं शैली की दृष्टि से इसे महावग्ग का अगला भाग कहा जा सकता है। यह बारह खन्धकों (स्कन्धकों) में विभक्त है। इनमें अन्तिम दो स्कन्धकों में क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय धर्मसंगीतियों का वर्णन है। प्रत्येक खन्धक की संक्षिप्त विषयवस्तु इस प्रकार है—

१. **कम्मक्खन्धक** (कर्मस्कन्धक) : इसमें तज्जनीय, नियस्स, पब्बाजनीय, पटिसारणीय एवं उक्खेपनीय कर्मों का विधान है।

२. **पारिवासिकक्खन्धक** (पारिवासिकस्कन्धक) : इसमें संघादिसेस दोष से युक्त भिक्षु के परिवाससम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख है। परिवास-काल में भिक्षु न तो उपसम्पदा दे सकता है और न ही किसी श्रामणेर का उपाध्याय ही बन सकता है। वह भिक्षुणी को धर्म-देशना भी नहीं दे सकता है। यदि कदाचित् परिवास-काल में पुनः संघादिसेस की आपत्ति से युक्त होता है, तो उसके मूल से प्रतिकर्षण का विधान है।

३. **समुच्चयक्खन्धक** (समुच्चयस्कन्धक) : इसमें भी परिवास-सम्बन्धी विधियों का वर्णन है।

४. **समथक्खन्धक** (शमथस्कन्धक) : यदि भिक्षु-संघ में कोई विवाद होता है तो उसे शान्त करने को शमथ कहते हैं। इसमें संमुखविनय, स्मृतिविनय, अमूढविनय, प्रतिज्ञातविनय, यद्भूयसिक, तत्पापीयसिक और तृणविस्तारक के माध्यम से झगड़ों को शान्त करने का विधान है।

५. **खुद्दकवत्थुक्खन्धक** (क्षुद्रकवस्तुस्कन्धक) : इसमें छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख है। उदाहरणस्वरूप स्नान, आभूषण, लेप, केश, कंघी, दर्पण आदि के सम्बन्ध में नियमों का विधान है। इसमें दो ब्राह्मण भाइयों द्वारा बुद्ध-वचनों को छन्द में करने का भगवान् बुद्ध से अनुरोध एवं बुद्ध द्वारा अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने का विधान उल्लेखनीय है।

६. **सेनासनक्खन्धक** (शयनासनस्कन्धक) : इसमें विहार के भीतर के सामान-सम्बन्धी नियम हैं तथा अनाथपिण्डिक की दीक्षा एवं जेतवन के निर्माण का भी विवरण उपलब्ध होता है।

७. **सङ्घभेदक्खन्धक** (सङ्घभेदस्कन्धक) : इसमें देवदत्त द्वारा भगवान् बुद्ध को हानि पहुँचानेवाले कार्यों का विवरण है। देवदत्त संघ से अलग होकर अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करना चाहता था। चूंकि इसमें देवदत्त द्वारा संघ में फूट डालने का प्रयत्न किया गया, अतः इसका नाम सङ्घभेदस्कन्धक पड़ा।

८. **वत्तक्खन्धक** (व्रतस्कन्धक) : इसमें आगन्तुक, आवासिक एवं गमिक भिक्षुओं के कर्त्तव्यों का विधान है। इसके अतिरिक्त इसमें आसन, स्नान-गृह आदि से सम्बद्ध नियमों का भी उल्लेख है।

९. पातिमोक्खट्ठपनक्खन्धक (प्रातिमोक्षस्थापनस्कन्धक) : इसमें यह बतलाया गया है कि किसका प्रातिमोक्ष स्थगित करना चाहिये। इसी प्रसंग में प्रातिमोक्ष के स्थगन-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है।

१०. भिक्खुनिक्खन्धक : (भिक्षुणीस्कन्धक) इसमें भिक्षुणी-संघ के उद्भव एवं विकास का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में बुद्ध के शासन में केवल भिक्षु-संघ ही था, किन्तु आनन्द द्वारा समर्थन किये जाने पर भगवान् बुद्ध ने संघ में स्त्रियों को भी प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा देने का विधान किया। इसी प्रसंग में उन आठ गुरुधर्मों का भी उल्लेख है, जिन्हें प्रत्येक भिक्षुणी को मानना अनिवार्य है। संघ में स्त्रियों के प्रवेश की दृष्टि से यह स्कन्धक महत्त्वपूर्ण है।

११. पञ्चसतिकक्खन्धक (पञ्चशतिकास्कन्धक) : इसमें भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के चार मास बाद हुई प्रथम धर्मसंगीति का वर्णन है। चूंकि इस संगीति में पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया था, अतः इसका नाम पञ्चसतिकक्खन्धक पड़ा। इससे प्रथम संगीति के ऐतिहासिक वर्णन के साथ ही बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके प्रिय शिष्य आनन्द की परिवर्तित मनःस्थिति की भी जानकारी प्राप्त होती है।

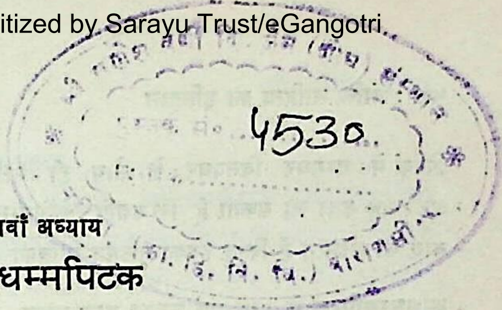
१२. सत्तसतिकक्खन्धक (सप्तशतिकास्कन्धक) : इसमें द्वितीय धर्मसंगीति का वर्णन है। चूंकि द्वितीय धर्मसंगीति में सात सौ स्थविर भिक्षुओं ने भाग लिया था, अतः उसे सप्तशतिका भी कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद कुछ भिक्षु दस बातों को लेकर नियमविरुद्ध आचरण करने लगे थे एवं उन्हें विनयसम्मत कहने लगे थे। उस बुराई को मिटाने के लिए पहले दोनों पक्ष के चार-चार भिक्षुओं की एक प्रवरसमिति ने उन सभी १० बातों को विनय-विरुद्ध ठहराया। तत्पश्चात् धर्मसंगीति में बुद्ध वचनों का संगायन किया गया।

इस प्रकार चुल्लवग्ग भी विनयपिटक का महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें संघभेद, भिक्षुणी-संघ की स्थापना एवं दोनों धर्मसंगीतियों का ऐतिहासिक विवरण है। स्कन्धक के अनन्तर कम्मवाचा का विवरण है। ये संघ-सम्बन्धी विभिन्न कार्य-प्रणालियों को बतलाता है। सात कम्मवाचा प्रसिद्ध हैं, जिनमें उपसम्पदा कम्मवाचा आज भी दक्षिण के बौद्धों द्वारा अपनायी जाती है। सभी कम्मवाचा स्कन्धकों में आये विधानों के अनुकूल हैं।

परिवार

यह विनयपिटक का अन्तिम भाग है। इसको विनयपिटक के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा बाद का माना जाता है। शैली की दृष्टि से इसे अभिधम्मपिटक के समकालिक कहा जाता है। परिवार का विनयपिटक से वही सम्बन्ध है, जो वेद की अनुक्रमणी एवं परिशिष्ट का वेदों से। यह विनयपिटक की विषय-सूची को व्यक्त करता है। इसका संकलन श्रीलंका में विनयपिटक की संक्षिप्त एवं प्रारम्भिक जानकारी देने के लिए किया गया है।

●



पांचवां अध्याय

अभिधम्मपिटक

अभिधम्मपिटक पालि तिपिटक का तीसरा मुख्य भाग है। अभिधम्म का अर्थ है—उच्चतर या विशेष धम्म। सुत्तपिटक में जो धम्म उपदेश रूप में और विनय-पिटक में संयमरूप में है, वही धम्म इस पिटक में तत्त्वविवेचन के रूप में है। इसी कारण अभिधम्मपिटक को बुद्ध-धर्म का दार्शनिक विवेचन कहा जाता है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस पिटक में किसी व्यवस्थित दर्शन की उपलब्धि नहीं होती है, अपितु बुद्ध-मन्तव्यों की तात्त्विक विवेचना मात्र है और उन मन्तव्यों का विभिन्न प्रकार से विश्लेषण एवं वर्गीकरण किया गया है। यत्र-तत्र एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द भी प्रस्तुत किये गये हैं। अतः जहाँ एक ओर जनसाधारण के लिए अभिधम्मपिटक की विषयवस्तु भारी रेगिस्तान प्रतीत होती है, वहीं दूसरी ओर बुद्ध-मन्तव्यों को गहराई से जानने की उत्सुकता रखनेवाले व्यक्ति के लिए यह पिटक अत्यन्त सहायक है। मनोविज्ञान का अध्येता इस पिटक के माध्यम से बौद्ध-मनोविज्ञान का सुन्दर चित्र उपस्थित कर सकता है।

अभिधम्मपिटक की प्राचीनता

अभिधम्मपिटक के विषय में एक प्रश्न प्रायः किया जाता है और वह यह कि क्या अभिधम्मपिटक बुद्धवचन है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार सुत्तपिटक एवं विनय-पिटक को बुद्धवचन के रूप में मान्यता प्राप्त है, क्या उसी प्रकार अभिधम्मपिटक को भी साक्षात् बुद्धवचन माना जा सकता है ?

चुल्लवग्ग में प्रथम एवं द्वितीय धर्मसंगीति का जो वर्णन आता है, उससे ज्ञात होता है कि पहली एवं दूसरी संगीति में धम्म एवं विनय का ही संगायन हुआ था। इससे यह स्पष्ट है कि अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक एवं विनयपिटक के बाद का संकलन है।

यही तथ्य सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक पर दृष्टि डालने से भी स्पष्ट होता है। सर्वास्तिवादी सूत्रपिटक एवं विनयपिटक की पालि सुत्तपिटक एवं विनयपिटक से मूलभूत समानताएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु जहाँ तक अभिधम्मपिटक का प्रश्न है, दोनों सम्प्रदायों में बहुत अन्तर है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि अभिधम्म-पिटक बाद का संकलन है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अभिधम्मपिटक का मूल आधार मातिका (विषय-सूची) है, जिसका अस्तित्व बुद्ध-काल में भी था। विनय-

पिटक में धम्मधर विनयधर के साथ ही मातिकाधर का भी उल्लेख मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक एवं विनयपिटक के बाद का संकलन है किन्तु इसका मूलभूत मातिका का अस्तित्व बुद्ध-काल में था।

अभिधम्मपिटक के ग्रन्थ एवं उनका कालानुक्रम

अभिधम्मपिटक सात ग्रन्थों (प्रकरणों) में विभक्त है—१. धम्मसङ्गणि, २. विभङ्ग, ३. धातुकथा, ४. पुग्गलपञ्ञत्ति, ५. कथावत्थु, ६. यमक, ७. पट्ठान।

ग्रन्थों का उक्त क्रम परम्परागत है, ऐतिहासिक नहीं। कारण, पाँचवें स्थान पर उल्लिखित कथावत्थु तृतीय संगीति के अवसर पर मोग्गलिपुत्ततिस्स द्वारा विरचित है और कालानुक्रम की दृष्टि से यह सबसे बाद की रचना है। अतः यहाँ यह आवश्यक है कि ग्रन्थों का विशेष परिचय देने के पूर्व उनकी ऐतिहासिकता को ध्यान में रखते हुए पूर्वापरता पर विचार कर लिया जाय।

अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों की पूर्वापरता को निश्चित करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि कौनसा ग्रंथ विषय और शैली की दृष्टि से सुत्तपिटक के समीप है। जो ग्रन्थ सुत्तपिटक के जितने समीप होगा उसे उतना ही प्राचीन माना जा सकता है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर यदि अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों का परीक्षण किया जाय तो पुग्गलपञ्ञत्ति प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है। कारण, पुग्गलपञ्ञत्ति के तयो पुग्गला, चत्तारो पुग्गला आदि भाग अंगुत्तरनिकाय के तिक निपात, चतुक्क निपात आदि की विषयवस्तु के समान हैं। साथ ही इसके अनेक अंश दीघनिकाय के संगीतपरियायसुत्त के समान हैं। उसके बाद कुछ विद्वान् विभङ्ग को रखते हैं। उनकी मान्यता है कि विभङ्ग के सच्चविभङ्ग, सतिपट्ठानविभङ्ग एवं धातुविभङ्ग मज्झिमनिकाय के सच्चविभङ्गसुत्त, सतिपट्ठानसुत्त और धातुविभङ्गसुत्त पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त विभङ्ग के कुछ अंश पटिसम्भिदामग्ग पर आधारित हैं। किन्तु इसके विपरीत अन्य विद्वान् धम्मसंगणि को दूसरे स्थान पर रखते हैं। उनका कहना है कि केवल शैली को ध्यान में रखकर विभङ्ग को दूसरे स्थान पर रखना उचित नहीं है अपितु शैली के साथ-साथ विषय को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। विषय की दृष्टि से विभङ्ग, धम्मसंगणि का पूरक ग्रन्थ स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। अधिकांश विद्वान् इसी दूसरे मत का समर्थन करते हैं। विषय की दृष्टि से विभङ्ग एक ओर धम्मसंगणि का पूरक ग्रन्थ है तो दूसरी ओर धातुकथा का आधार है। इसी प्रकार विभङ्ग ही यमक की पृष्ठभूमि है। पच्चयाकार का विस्तृत विवेचन पट्ठान में मिलता है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों का रचनाक्रम इस प्रकार माना जाता है—१. पुग्गलपञ्ञत्ति २. धम्मसङ्गणि, ३. विभङ्ग, ४. धातुकथा ५. यमक, ६. पट्ठान एवं ७. कथावत्थु।

अभिधम्मपिटक की विषयवस्तु, शैली एवं महत्त्व

विषयवस्तु : जैसा पहले कहा जा चुका है, अभिधम्मपिटक कोई व्यवस्थित दर्शन प्रस्तुत नहीं करता है, अपितु सुत्तपिटक के मूलभूत सिद्धान्तों का ही गम्भीर विवेचन एवं वर्गीकरण इसकी विषयवस्तु हैं। इन सिद्धान्तों को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण। सुत्तपिटक में पाँच स्कन्धों, बारह आयतनों एवं अठारह धातुओं का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। इन सबकी पृष्ठभूमि में अनत्तवाद की देशना ही प्रमुख लक्ष्य है। अभिधम्मपिटक में इन्हीं स्कन्धों, आयतनों एवं धातुओं का विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट होता है कि अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक की विषयवस्तु का गम्भीर विवेचन है।

शैली : शैली की दृष्टि से सुत्तपिटक एवं अभिधम्मपिटक में उल्लेखनीय अन्तर है। सुत्तपिटक की देशना सप्परियाय देशना है अर्थात् यहाँ किसी बात को समझाने के लिए अनेक उदाहरणों, प्रकारों और उपमाओं का प्रयोग किया गया है। दूसरी ओर अभिधम्मपिटक की देशना निप्परियाय देशना है अर्थात् वहाँ उपमाओं या उदाहरणों का सहारा लिए विना धम्म का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। दूसरे शब्दों में सुत्त-पिटक की शैली व्यवहारपरक है, जब कि अभिधम्मपिटक की शैली परमार्थपरक। यही कारण है कि सुत्तपिटक जनसामान्य को उपयोगी है तथा अभिधम्मपिटक केवल उन लोगों को ही लाभदायक है जो बुद्ध के प्रति श्रद्धा से ओतप्रोत हैं और बुद्ध-मन्तव्यों का गम्भीर अध्ययन ही जिनका उद्देश्य है।

महत्त्व : उपमाओं एवं उदाहरणों आदि से रहित अभिधम्मपिटक के गम्भीर विवेचन एवं उसकी विषय-वस्तु का सम्मान बौद्ध-जगत् में अन्य पिटकों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। बरमा में तो अभिधम्मपिटक को अत्यधिक सम्मान दिया जाता है। लंका में भी इसको प्रभूत महत्त्व प्रदान किया जाता है। सम्पूर्ण अभिधम्म को सोने के पत्रों पर खुदवाना तथा धम्मसंगणि को बहुमूल्य रत्नों से सजाना आदि कार्य इस पिटक के प्रति सम्मान को प्रकट करते हैं। इस पिटक को यह सम्मान इस कारण भी दिया जाता है कि बुद्ध-मन्तव्यों को पारमार्थिक दृष्टि से समझने के लिए इससे अधिक सहायक अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है।

अभिधम्मपिटक के विभिन्न ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

धम्मसङ्गणि

धम्मसङ्गणि अभिधम्मपिटक का मूलभूत ग्रन्थ है। इसमें कामावचर, रूपावचर आदि के रूप में धर्मों की गणना एवं संक्षिप्त विवेचन है। इसी कारण इसका यह नाम पड़ा। विनयपिटक में सुत्तधर, विनयधर, मातिकाधर आदि का उल्लेख है, इस ग्रन्थ में वही मातिका (एक प्रकार की विषय-सूची) संगृहीत है। इसमें नाम (मानसिक) एवं रूप (भौतिक) जगत् की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। यह व्याख्या कर्म के

कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत रूपों एवं उसके विपाकों से सम्बद्ध है। अतः इसे बौद्ध नीतिवाद का मनोवैज्ञानिक विवेचन कहा जा सकता है।

यद्यपि धम्मसङ्गणि की विषयवस्तु गम्भीर है, फिर भी मातिका (एक प्रकार की विषय-सूची) उसे आसान बना देती। मातिका के कुल १२२ वर्गीकरण हैं। इनमें २२ वर्गीकरण ऐसे हैं, जो तीन-तीन शीर्षकों में विभक्त हैं, शेष १०० वर्गीकरण दो-दो शीर्षकों में विभक्त हैं।

धम्मसङ्गणि की विषयवस्तु चार काण्डों में विभक्त है—चित्तुप्पादकण्ड, रूपकण्ड, निक्खेपकण्ड एवं अत्थुद्धारकण्ड। इनमें से प्रथम दो काण्डों में मानसिक एवं भौतिक जगत् की अवस्थाओं का कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत रूप में विवेचन है। तीसरे और चौथे काण्डों में इसीका संक्षेप है।

धम्मसङ्गणि में संगणित मानसिक एवं भौतिक जगत् की विभिन्न अवस्थाएँ जनसाधारण के लिए भले ही अरुचिकर प्रतीत हों, किन्तु कर्मों के कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत रूपों को जानने के इच्छुक विद्यार्थी के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। चित्त की अच्छी या बुरी प्रवृत्तियाँ एवं चित्त में उठनेवाले विकल्प (चैतसिक धर्म) मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए अध्ययन की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। चूंकि यह एक बौद्ध ग्रन्थ है, अतः इसमें निहित मन की विभिन्न अवस्थाओं को बौद्ध-मनोविज्ञान कहा गया है, किन्तु मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए भी यह सामग्री लाभदायी है। धम्मसङ्गणि के महत्त्व का आकलन इसीसे किया जा सकता है कि अन्य ग्रन्थों में भी इसकी प्रणाली को अपनाया गया है।

विभङ्ग

यह अभिधम्मपिटक का दूसरा ग्रन्थ है। विभङ्ग का अर्थ है—व्याख्या या वर्गीकरण। धम्मसङ्गणि के विश्लेषित धम्मों को ही यहाँ वर्गबद्ध किया गया है। धम्मसङ्गणि में जहाँ यह बतलाया गया है कि किन-किन धर्मों से कौन-कौन से स्कन्ध आयतन, धातु आदि सम्बद्ध हैं, वहीं विभङ्ग में यह बतलाया गया है कि किस स्कन्ध, आयतन, धातु आदि में कौन-कौन से धम्म सम्मिलित हैं। इस प्रकार विभङ्ग में स्कन्ध, आयतन आदि को ही आधार बनाकर धर्मों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

विभङ्ग की विषयवस्तु १८ विभङ्गों में विभक्त है—

१. खन्ध	७. सतिपट्ठान	१३. अप्पमञ्ञा
२. आयतन	८. सम्मप्पधान	१४. सिक्खापद
३. धातु	९. इद्धिपाद	१५. पटिसम्भिदा
४. सच्च	१०. बोज्झङ्ग	१६. ञाण
५. इन्द्रिय	११. मग्गङ्ग	१७. खुद्दकवत्थु
६. पटिच्चसमुप्पाद	१२. झान	१८. धम्महदय

उक्त अठारह विभङ्गों में से प्रत्येक विभङ्ग पुनः तीन भागों में विभक्त है—१. सुत्तन्तभाजनीय, २. अभिधम्मभाजनीय एवं ३. पञ्हपुच्छक। इनमें पहले भाग में यह दिखलाया गया है कि जिस विषय का वर्णन करना है, वह सुत्तपिटक में किस रूप में है। दूसरे भाग में उसी विषय की अभिधम्म की मातिकाओं के अनुसार व्याख्या है और तीसरे भाग में द्विक तिक आदि के शीर्षकों रूप में प्रश्नोत्तर हैं जिनमें समस्त विषयवस्तु का सार निहित है।

इस प्रकार विभङ्ग धम्मसङ्गणि का ही पूरक ग्रन्थ कहा जाता है, किन्तु इसमें विषय का विन्यास धम्मसङ्गणि से ठीक उल्टा है।

धातुकथा

यह अभिधम्मपिटक का तीसरा प्रमुख ग्रन्थ है। विभङ्ग के अठारह प्रकरणों में से प्रथम तीन अर्थात् स्कन्ध, आयतन और धातु का विशेष विश्लेषण इस ग्रन्थ में किया गया है। अतः विद्वानों का मत है कि विषयवस्तु की दृष्टि से इस ग्रन्थ का नाम धातुकथा के स्थान पर स्कन्ध-आयतन-धातुकथा होना चाहिए। किस-किस स्कन्ध, आयतन आदि में कौन-कौन से धर्म संगृहीत, असंगृहीत, सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त होते हैं—इसीका विवेचन प्रश्नोत्तर की प्रणाली से १४ अध्यायों में किया गया है। इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ स्कन्ध, आयतन और धातु का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाया गया है और ये धर्म मातिका के अनुसार १२५ हैं।

पुग्गलपञ्ञत्ति

यह अभिधम्मपिटक का चौथा ग्रन्थ है। पुग्गल का अर्थ है—व्यक्ति और पञ्ञत्ति का अर्थ है—ज्ञान या पहचान। अतः व्यक्तियों की उनके कर्म, गुण या स्वभाव के आधार पर पहचान कराना ही इस ग्रन्थ का प्रमुख लक्ष्य है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस ग्रन्थ का सम्बन्ध अभिधम्म की अपेक्षा सुत्तपिटक से है। इसमें व्यक्तियों का वर्णन धर्मों के साथ उनके सम्बन्ध बतलाते हुए नहीं किया गया है, अपितु सुत्तपिटक में आये व्यक्तिनिर्देश की एक सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। व्याख्या करते समय व्यक्ति के गुण, कर्म या स्वभाव को विशेष आधार बनाया गया है। इस कारण इसे व्यक्ति के विषय में बौद्धों के नैतिक दृष्टिकोण की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ कहा जाय तो अनुचित न होगा।

यह ग्रन्थ दस निपातों (अध्यायों) में विभक्त है, जिनमें एक-एक प्रकार के दो-दो प्रकार के आदि क्रम से व्यक्तियों की पहचान प्रस्तुत की गयी है। अन्तिम अध्याय में दस-दस प्रकार के व्यक्तियों की व्याख्या है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में भले ही सुत्तपिटक की अपेक्षा विषय एवं शैली की दृष्टि से नवीन कुछ भी न हो, किन्तु इससे यह समझने में सहायता मिलती है कि किस प्रकार की विशेषता वाले व्यक्ति को बौद्ध धर्म में

नैतिक एवं अनुकरणीय कहा जा सकता है तथा किस प्रकार का व्यक्ति अनैतिक एवं उपेक्षणीय होता है।

कथावत्थु

यह अभिधम्मपिटक का पांचवां ग्रन्थ है। कथाएँ ही इसकी विषयवस्तु होने से इसका नाम कथावत्थु पड़ा है। इसमें पुग्गल कथा से लेकर अपरिनिप्फन्नकथा तक कुल २१७ कथाएँ हैं। प्रत्येक कथा में किसी एक सिद्धान्त को लेकर तर्कशास्त्र के ढंग से उसका खण्डन किया गया है। इसका बौद्ध धर्म के इतिहास में अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। पूरे तिपिटक में यही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसका एक निश्चित लेखक है। इसके लेखक या रचयिता मोग्गलिपुत्ततिस्स हैं।

अशोक के समय (ई० पू० २४६) तक बुद्ध का धर्म १८ निकायों में विभक्त हो चुका था। अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद अन्य सम्प्रदाय के लोग भी भिक्षु संघ में सम्मिलित होकर अपने-अपने ढंग से बुद्ध-मन्तव्यों की व्याख्या करने लगे थे। फलस्वरूप राजा अशोक के अनुरोध पर मोग्गलिपुत्ततिस्स ने थेरवाद को मूल बौद्ध धर्म मानकर शेष १७ निकायों का खण्डन किया था। उन्होंने अपने इस कार्य को एक ग्रन्थ का रूप दे दिया था, जो कथावत्थु के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसके महत्त्व को देखते हुए उसे तिपिटक में सम्मिलित कर लिया गया।

कुछ विद्वानों का कहना है कि इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे मतों का खण्डन है, जिनका सम्बन्ध अशोक के समय के बाद अस्तित्व में आनेवाले सम्प्रदायों से है। अतः इस ग्रन्थ के वे अंश बाद के हैं। किन्तु अन्य विद्वान् यह कहकर कथावत्थु को अशोककालीन रचना मानते हैं कि इसमें सिद्धान्तों का ही उल्लेख है। हो सकता है, अशोक के समय में वे सभी सिद्धान्त प्रकट या अप्रकट रूप में रहे हों और बाद में जाकर वे किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो गये हों, अतः इससे कथावत्थु के कुछ अंश को निश्चित रूप से बाद का कहना गलत होगा।

जो भी हो, दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है। बौद्ध धर्म में उत्पन्न १८ निकायों एवं उनके सिद्धान्तों की प्रामाणिक जानकारी देनेवाला एकमात्र यही ग्रन्थ है।

यमक

यह अभिधम्मपिटक का छठा ग्रन्थ है। यमक का शाब्दिक अर्थ जुड़वाँ होता है। इस ग्रन्थ में प्रश्नों को युगलों में बनाकर प्रस्तुत किया गया है, इसीलिए इसका नाम यमक पड़ा है। इसके कुछ प्रश्नों का नमूना इस प्रकार है :—

१. क्या सभी कुशलधर्म कुशलमूल हैं ?
क्या सभी कुशलमूल कुशल धर्म हैं ?

२. क्या सभी रूप रूपस्कन्ध हैं ?
क्या सभी रूपस्कन्ध रूप हैं ? आदि

इस प्रकार प्रश्नों के उत्तर देते समय इस ग्रन्थ में अभिधम्म में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की निश्चित व्याख्या दी गयी है। अतः इसका उपयोग अभिधम्म के पारिभाषिक शब्दकोश के रूप में किया जा सकता है।

यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है, जिनका विवरण विषय के साथ इस प्रकार है—

१. मूल यमक	कुशल, अकुशल और अव्याकृत ये तीन मूल धर्म
२. खन्ध यमक	पञ्च स्कन्ध
३. आयतन यमक	१२ आयतन
४. धातु यमक	१८ धातुएँ
५. सच्च यमक	४ सत्य
६. संखार यमक	कायिक, वाचिक एवं मानसिक संस्कार
७. अनुसय यमक	७ अनुशय
८. चित्त यमक	चित्तसम्बन्धी प्रश्नोत्तर
९. धम्म यमक	धर्मसम्बन्धी प्रश्नोत्तर
१०. इन्द्रिय यमक	२२ इन्द्रियाँ।

यह ग्रन्थ अभिधम्म के सम्बन्ध में उत्पन्न शंकाओं का निराकरण करने के लिए उत्तम है। अभिधम्म के पाण्डित्य की परीक्षा के लिए इसी ग्रन्थ के प्रश्न पूछे जाते हैं। लंका, बरमा, थाईलण्ड आदि देशों में इस यमक को कण्ठस्थ करने की परम्परा है।

पट्ठान

यह अभिधम्मपिटक का सातवाँ ग्रन्थ है। आकार की दृष्टि से यह अन्य छः ग्रन्थों की अपेक्षा बृहद् आकार का है। पट्ठान में प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तार के साथ विवेचन है। यद्यपि सुत्तपिटक में भी प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन है, किन्तु पट्ठान में इस सिद्धान्त का विवेचन एक अलग ढंग से किया गया है। सुत्तपिटक में प्रतीत्यसमुत्पाद की १२ कड़ियों का वर्णन है, जो प्रत्ययों के आधार पर एक-दूसरे से जुड़ी हैं। पट्ठान में कड़ियों की अपेक्षा उन प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन है, जिनके आधार पर वे कड़ियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। ग्रन्थ के नाम 'पट्ठान' (प्रत्यय-स्थान) से भी यही आशय प्रकट होता है।

ग्रन्थ के आरम्भ में 'पच्चयनिद्देस' शीर्षक के अन्तर्गत २४ प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है—

(१) अनुलोम पट्ठान, (२) पच्चनिय पट्ठान, (३) अनुलोमपच्चनिय पट्ठान तथा (४) पच्चनिय अनुलोम पट्ठान।

उक्त भागों में धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-सम्बन्धों का क्रमशः विधानात्मक, निषेधात्मक, विधानात्मक-निषेधात्मक एवं निषेधात्मक विधानात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक भाग में यह विवरण छः उपविभागों में विभक्त है—(१) तिक-पट्ठान, (२) दुक पट्ठान, (३) दुक तिक पट्ठान, (४) तिक दुक पट्ठान, (५) तिक तिक पट्ठान एवं (६) दुक दुक पट्ठान। यहाँ दुक एवं तिक का अभिप्राय धम्मसङ्गणि में प्रयुक्त १०० द्विकों एवं २२ त्रिकों से है।

इस प्रकार अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक में आये धर्मों का दार्शनिक या तात्त्विक विवेचन है। इसके सात ग्रन्थों में क्रमशः धम्मसङ्गणि में धम्मों का विश्लेषण, विभङ्ग में उनकी व्याख्या तथा वर्गीकरण, धातुकथा में उस वर्गीकरण के कुछ शीर्षकों का विशेष विवेचन, पुग्गलपञ्ञत्ति में धर्म की पृष्ठभूमि में व्यक्ति का निरूपण, कथावत्थु में मिथ्या दृष्टियों का खण्डन एवं मौलिक स्वरूप का प्रकाशन, यमक में पारिभाषिक शब्दावली का व्याख्यान एवं पट्ठान में प्रतीत्यसमुत्पाद के १२ अंगों को जोड़नेवाले प्रत्ययों का विवेचन है।

अभिधम्मपिटक का विषय यद्यपि सामान्य जनों के लिए नीरस एवं शुष्क प्रतीत होता है, किन्तु बुद्ध-मन्तव्यों के गम्भीर अध्ययन में तत्पर प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है। सुत्तपिटक एवं विनयपिटक के अध्ययन से भले ही बुद्ध की उपदेशात्मक एवं संयमरूप देशना का ज्ञान हो जाय, किन्तु बुद्ध-मन्तव्यों के तात्त्विक, नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्वरूप की अनुभूति अभिधम्मपिटक के बिना सम्भव नहीं है।



छठा अध्याय

अनुपिटक-साहित्य

पिछले अध्यायों में वर्णित पालि तिपिटक और उसके ऊपर ५वीं सदी में लिखी गयीं अट्ठकथाओं के बीच जिन ग्रन्थों की रचना की गयी है, उन्हें अनुपिटक-साहित्य में रखा जाता है। इन ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—नेत्तिप्पकरण, पेटकोपदेस तथा मिलिन्दपञ्हो। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं तीन ग्रन्थों का विवरण दिया जा रहा है।

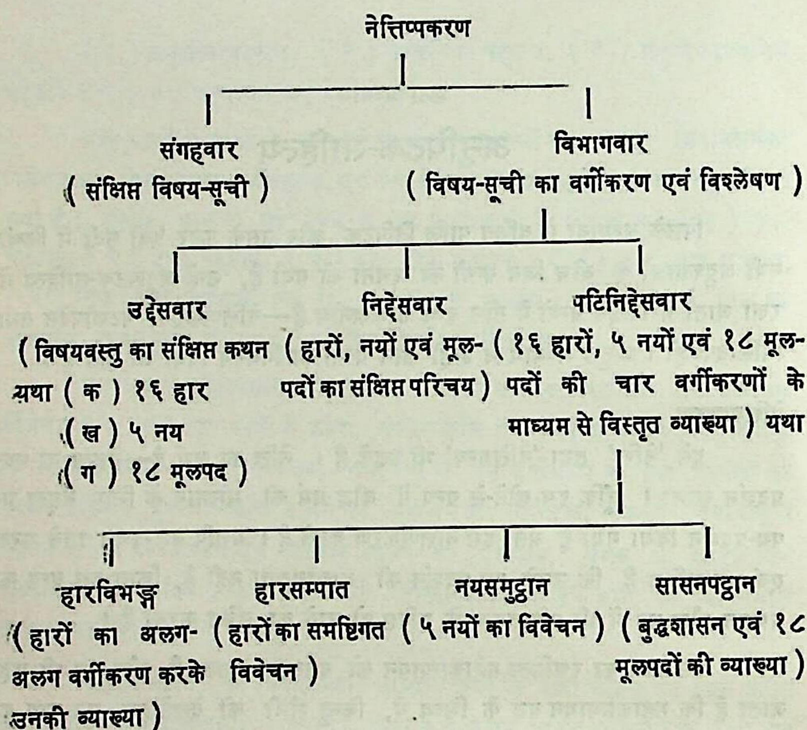
नेत्तिप्पकरण

इसे 'नेत्ति' तथा 'नेत्तिगन्ध' भी कहते हैं। नेत्ति का अर्थ है—नेतृत्व या पथ-प्रदर्शन करना। चूंकि इस छोटे-से ग्रन्थ में बौद्ध धर्म को समझाने के लिए नेतृत्व या पथ-प्रदर्शन किया गया है अतः इसे नेत्तिप्पकरण कहते हैं। यद्यपि बुद्ध-वचन इतने सरल एवं स्वाभाविक हैं कि उनके पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ का प्रणयन बौद्ध धर्म में भी पण्डितवाद के प्रविष्ट हो जाने का संकेत करता है।

इस ग्रन्थ का रचयिता महाकात्यायन को बतलाया जाता है और यह भी कहा जाता है कि महाकात्यायन बुद्ध के शिष्य थे, किन्तु शैली को देखते हुए इस ग्रन्थ का रचयिता बुद्ध के साक्षात् शिष्य महाकात्यायन नहीं हो सकते हैं। सम्भवतः इसके रचयिता कात्यायन (कच्चान) नामक भिक्षु थे और इसका रचनाकाल ईसवी सन् के आसपास होना चाहिये।

नेत्तिप्पकरण का विषय १६ हार, ५ नय तथा १८ मूलपदों का विवेचन करना है। यहाँ हार का तात्पर्य गूंथे हुए विषयों की माला से, नय का निर्णय करने की युक्तियों से और मूलपद का मुख्य नैतिक विषयों से है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ संगहवार से होता है। ५ गाथाओं के इस परिच्छेद में सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय-सूची है। उसके बाद विभागवार है, जो तीन भागों में विभक्त है—उद्देसवार, निद्देसवार एवं पटिनिद्देसवार। उद्देसवार में १६ हारों के नाम गिनाये गये हैं, निद्देसवार में उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है और पटिनिद्देसवार में उनकी व्याख्या। यह पटिनिद्देसवार चार उपविभागों में विभक्त है—हारविभङ्ग, हारसम्पात, नयसमुट्ठान एवं सासनपट्ठान। इनमें से प्रथम दो में १६ हारों की विस्तृत व्याख्या है जब कि नयसमुट्ठान में ५ नयों से बुद्धदेशना का विभाजन और सासनपट्ठान में १८ मूलपदों के अनुसार धर्म का विभाजन है। इसीको तालिका के माध्यम से इस प्रकार समझा जा सकता है—



इस प्रकार शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ अभिधम्म का अनुसरण अवश्य करता है, किन्तु इसमें अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों जैसी नीरसता न होकर सुत्तपिटक जैसी सरसता है।

ग्रन्थ का महत्त्व इस तथ्य से आँका जा सकता है कि इसे तथा पेटकोपदेस को तिपिटक का अंग माना जाता है और इसकी गणना लंका एवं बरमा में तिपिटक के अन्तर्गत आनेवाले खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों में की जाती है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में धम्मपाल ने इस ग्रन्थ पर 'नेत्तिप्पकरणस्स अत्थसंवण्णना' नामक अट्ठकथा (टीका) लिखी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक यह ग्रन्थ प्रसिद्धि पा चुका था।

पेटकोपदेस

नेत्तिप्पकरण के समान ही पेटकोपदेस की भी विषयवस्तु है। इसे भी महाकात्यायन की रचना माना जाता है और लंका एवं बरमा में इसे भी तिपिटक के ग्रन्थों में गिना जाता है। इस ग्रन्थ की विशेषता विषय-विन्यास को लेकर है। इसमें बुद्ध-शासन के प्रमुख सिद्धान्त चार आर्य सत्यों को दृष्टि में रखकर विषय का विवेचन किया गया है।

मिलिन्दपञ्ह

यह अनुपिटक-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसके नाम से सामान्यतः यह विदित होता है कि इसमें मिलिन्द के प्रश्नों का विवरण है, किन्तु इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय उन प्रश्नों का समाधान है जो भदन्त नागसेन ने किये थे। प्रश्नों का समाधान स्थविरवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। फलतः इस ग्रन्थ को पालि तिपिटक के समान ही सम्मान दिया जाता है। अट्ठकथाकार आचार्य बुद्धघोस ने अपनी अट्ठकथाओं में मिलिन्दपञ्ह से प्रमाणस्वरूप उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्थविरवादी सिद्धान्तों के लिए आचार्य बुद्धघोस ने मिलिन्दपञ्ह को तिपिटक के समान ही महत्त्व प्रदान किया है।

मिलिन्दपञ्ह सात परिच्छेदों में विभक्त है—१. बाहिरकथा, २. लक्खणपञ्हो, ३. विमतिच्छेदनपञ्हो, ४. मेण्डकपञ्हो, ५. अनुमानपञ्हो, ६. धुतङ्गकथा तथा ७. ओपम्मकथापञ्हो।

बाहिरकथा में नागसेन की जन्मकथा एवं उसके बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का विवरण दिया गया है। इसमें राजा मिलिन्द के विषय में भी जानकारी दी गयी है। मिलिन्द यूनान के राजा दिमित्रि का दामाद एवं सेनापति था। दिमित्रि ने पंजाब पर आक्रमण कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था और वहाँ शासक के रूप में मिलिन्द को नियुक्त किया था। मिलिन्द की राजधानी सागल (स्याल कोट) थी। मिलिन्द (जिसे ग्रीक में मिनाण्डर कहते थे) एक विद्याव्यसनी राजा था। वह दार्शनिक प्रश्नों के समाधान के लिए विभिन्न सन्तों के पास गया, किन्तु निराश होकर लौटा। अन्त में संखेय्य परिवेण में विद्वान् भिक्षु नागसेन से मिला। मिलते ही उसे सन्तोष हुआ कि वह अपने प्रश्नों का उचित समाधान भिक्षु नागसेन से प्राप्त कर सकेगा।

लक्खणपञ्हो नामक दूसरे परिच्छेद से प्रश्नोत्तर का क्रम प्रारम्भ होता है। इस परिच्छेद में अनात्मवाद, पुनर्जन्म, संस्कार आदि से सम्बद्ध शंकाओं का समाधान है।

विमतिच्छेदनपञ्हो नामक तीसरे परिच्छेद में कर्मफल, निर्वाण, बुद्धत्व आदि विषयों पर प्रश्न एवं समाधानरूप संलाप है। इसके बाद राजा मिलिन्द एवं भदन्त नागसेन का कथासंलाप समाप्त हो जाता है।

मेण्डकपञ्हो नामक चौथे परिच्छेद में पुनः मिलिन्द राजा को भदन्त नागसेन के पास आते हुए पाते हैं। इस बार उसका लक्ष्य तिपिटक में व्याप्त उन विरोधों को सुलझाना है, जो भविष्य में भ्रम उत्पन्न कर सकते थे। नागसेन के समक्ष राजा मिलिन्द एक-एक करके सभी प्रश्नों को रखता है और नागसेन उन सबका समाधान करते हैं।

अनुमानपञ्हो नामक पाँचवें परिच्छेद में पुनः राजा मिलिन्द को नागसेन के पास जाते हुए देखते हैं। इस बार वह बुद्ध के अस्तित्व के विषय में प्रमाण चाहता है। भदन्त नागसेन धम्म के अस्तित्व से ही बुद्ध के अस्तित्व का अनुमान प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रसंग में धम्मनगर का रूपक द्वारा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

धुतङ्गकथा नामक छठे परिच्छेद में राजा मिलिन्द द्वारा गृहस्थ द्वारा निर्वाण-प्राप्ति के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भदन्त नागसेन १३ धुतङ्गों का विवेचन करते हैं।

अन्तिम ओपम्मकथापञ्हो नामक सातवें परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि अर्हत्त्व का साक्षात्कार करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को किन-किन गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

रचना-काल

मिलिन्दपञ्हो की उपर्युक्त संक्षिप्त विषयवस्तु के बाद अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस ग्रन्थ की रचना किस समय हुई तथा क्या सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही समय लिखा गया अथवा इसमें समय-समय पर परिवर्द्धन होता रहा है?

चूंकि ग्रन्थ में राजा मिलिन्द और भदन्त नागसेन की शंका-समाधान के रूप में हुई बातचीत संगृहीत है। अतः राजा मिलिन्द के कुछ ही समय बाद ग्रन्थ का रचना-काल होना चाहिए। भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी में ग्रीक का शासन था। ग्रीक का राजा दिमित्रि भारत के उक्त प्रदेश को जीतकर वहाँ अपने दामाद एवं सेनापति मेनाण्डर को शासक बनाकर लौट गया। यही मेनाण्डर पालि में मिलिन्द नाम से जाना जाता है। राजा मेनाण्डर ने जब भदन्त नागसेन की विद्वत्ता के विषय में सुना तो एक दिन उनके दर्शन को चल पड़ा। ग्रन्थ में इसी मेनाण्डर का भदन्त नागसेन से हुए ऐतिहासिक संवाद का संकलन है। अतः इस ग्रन्थ का समय भी ईसा-पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दी होना चाहिए। यदि ग्रन्थ के रचनाकाल को मिलिन्द नागसेन के संवाद के आधार पर बाद का भी मानें तो भी इसे ईसवी सन् के पूर्व ही मानना होगा। कारण, राजा मिलिन्द की मृत्यु के बाद ग्रीक-शासन भारत से लुप्त हो गया था और उसकी स्थायी स्मृति भारत के इतिहास में नहीं है। अतः यह ग्रन्थ अधिक-से-अधिक मिलिन्द की मृत्यु के इतने बाद तक का हो सकता है जब तक कि मिलिन्द की याद ताजी बनी रही हो। सारांश यह कि मिलिन्दपञ्हो का रचनाकाल ईसा-पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दी है।

इसमें सन्देह नहीं कि मिलिन्दप्रश्न एक इकाईवद्ध रचना नहीं है। ग्रन्थ के तीसरे परिच्छेद के अन्त में लिखा है कि "मिलिन्दस्स पञ्हानं पुच्छाविस्सज्जना निट्ठिता" अर्थात् मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर समाप्त हुए। इस आन्तरिक साक्ष्य से यह स्पष्ट

है कि मूल रूप में ग्रन्थ तृतीय परिच्छेद तक ही था। इनमें से प्रथम परिच्छेद का वह प्रारम्भिक अंश भी बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है जिसमें मिलिन्द एवं नागसेन के पूर्वजन्मों की कथा है तथा जहाँ यह बतलाया गया है कि किस प्रकार नागसेन बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। अतः प्रथम परिच्छेद के कुछ अंशों के साथ ही द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेद की विषयवस्तु ग्रन्थ का मूलरूप है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि आचार्य बुद्धघोस ने अपनी रचनाओं में मिलिन्दपाह्न के इसी भाग से उद्धरण दिये हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप ने भी कहा है कि मेण्डक प्रश्न की दुविधाएँ और उनका निराकरण, अनुमान प्रश्न के धर्मनगर की कल्पना तथा उपमा-कथा-प्रश्न के मुमुक्षु भिक्षु के ग्राह्य गुण शान्तचित्त बैठे किसी लेखक की लेखनी से प्रसूत प्रतीत होते हैं, न कि किसी बातचीत के प्रसंग में।

ग्रन्थ का महत्त्व

विषय, भाषा एवं शैली सभी दृष्टियों से इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है। स्थविरवादी सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवेचन तो इसमें है ही, साथ ही भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक उपयोगी जानकारी इस ग्रन्थ से मिलती हैं। इसकी भाषा सरल एवं स्वाभाविक है तथा शैली अत्यन्त आकर्षक। भाषा एवं शैली की दृष्टि से इसे अपने समय का भारतीय गद्य-शैली का सर्वोत्तम ग्रन्थ कहा जा सकता है।

●

सातवाँ अध्याय

अट्ठकथा (व्याख्या) एवं टीका-साहित्य

तृतीय धम्मसंगीति में तिपिटक के अन्तिम रूप में आ जाने के बाद विदेशों में बुद्ध-धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजने का निश्चय किया गया और इसी निश्चय के अनुसार अशोक के पुत्र महेन्द्र स्थविर को लंका द्वीप भेजा गया। उनके साथ इट्टिय, उत्तिय, सम्बल एवं भद्दसाल नामक चार भिक्षु भी गये थे। उसके कुछ समय बाद भिक्षुणी संघमित्रा (राजा अशोक की पुत्री) ग्यारह भिक्षुणियों के साथ लंका पहुँची। इन भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों ने लंका में बौद्धधर्म का प्रचार किया और कण्ठस्थ रूप में अपने साथ लाये बुद्ध-वचनों को सुरक्षित रखा। यह कण्ठस्थ-परम्परा ई० पू० प्रथम शताब्दी तक विद्यमान रही। लंका के राजा वट्टगामणि (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समय यह अनुभव किया गया कि इतने विशाल तिपिटक को कण्ठस्थ-परम्परा के सहारे अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है, अतः वट्टगामणि के समय लिपिबद्ध कर दिया गया।

सिंहली अट्ठकथा-साहित्य

भारत में तिपिटक के साथ-साथ उसकी व्याख्या भी कण्ठस्थ-परम्परा में विद्यमान थी। इस प्रकार की व्याख्याओं में से कुछ को तो तिपिटक में स्थान दिया गया है। जब महेन्द्र लंका गये थे तो वे अपने साथ तिपिटक के साथ उसके व्याख्या-साहित्य को भी ले गये थे। तिपिटक को तो मूल पालि भाषा में ही लिपिबद्ध किया गया, किन्तु अट्ठकथा-साहित्य का सिंहली भाषा में अनुवाद कर उसे लिपिबद्ध किया गया। इस अनुवाद में जहाँ कहीं गाथा-भाग था, उसे पालि भाषा के रूप में ही सुरक्षित रखा गया। सिंहली भाषा में अनूदित इन्हीं अट्ठकथाओं को प्राचीन अट्ठकथाओं के रूप में जाना जाता है। इनमें प्रमुख अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं—१. महाअट्ठकथा, २. कुरुन्दीअट्ठकथा, ३. पच्चरिअट्ठकथा, ४. अन्धकअट्ठकथा तथा ५. संखेपअट्ठकथा। इनमें से महाअट्ठकथा नामक सुत्तपिटक की अट्ठकथा सारे निकायों पर थी तथा कुरुन्दी तथा महापच्चरि क्रमशः विनय एवं अभिधम्मपिटक की अट्ठकथाएँ थीं। अन्धकअट्ठकथा का सम्बन्ध आन्ध्र से था जब कि संखेपअट्ठकथा संक्षिप्त व्याख्या रही होगी।

पालि अट्ठकथा-साहित्य

ईसा की चतुर्थ शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय पालि के ग्रन्थ-लेखन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। इस काल में दीपवंस एवं महावंस नामक दो महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थों की रचना की गयी है, जिनका विवेचन वंस-साहित्य के प्रसङ्ग में अगले अध्याय में किया जायगा। सिंहली भाषा में विद्यमान तिपिटक की अट्ठकथाओं का पालि-रूपान्तर किया गया एवं अट्ठकथाओं को आधार बनाकर टीकाएँ लिखी गयीं। यह काल लंका में पालि के ग्रन्थ-लेखन का काल था। अतः महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस काल की पालि-ग्रन्थ-लेखन की गतिविधियों को 'सिंहल में पालि' शीर्षक से अपने इतिहास में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर पालि अट्ठ-कथाकारों के क्रम से पालि अट्ठकथा-साहित्य पर प्रकाश डाला जा रहा है। पालि के अट्ठकथाकारों में आचार्य बुद्धघोस, बुद्धदत्त, धम्मपाल, महानाम एवं उपसेन प्रमुख हैं। अन्य अट्ठकथाकारों में आनन्द, चुल्लधम्मपाल, काश्यप, वजिरबुद्धि, खेम, अनुरुद्ध, धम्मसिरि एवं महासामि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य बुद्धघोस

आचार्य बुद्धघोस ने पालि-साहित्य की अभिवृद्धि में जो योगदान दिया, वह अनुपम है। उनके कार्यों को देखकर यह आश्चर्य होता है कि इस व्यक्ति ने अपने जीवन में इतना सारा काम कैसे किया होगा। उनका जीवन बुद्ध-शासन को चिरस्थायी बनाने के लिए समर्पित था। वे युग-प्रवर्तक थे। इसी कारण आचार्य बुद्धघोस के काल को इतिहासकारों ने बुद्धघोस-युग की संज्ञा प्रदान की है।

जीवन-परिचय : इनका जन्म महाबोधि (बोधिवृक्ष) के समीप 'मोरण्ड खेटक' नामक ग्राम के ब्राह्मण कुल में हुआ था। प्रारम्भ में ये ब्राह्मण शिल्प एवं तीनों वेदों के ज्ञाता तथा वाद-विवाद में निपुण थे। मुक्ति के मार्ग की जिज्ञासा को लिये हुए इन्होंने अनेक स्थलों पर वाद-विवाद किया था। एक दिन ये बोधगया के विहार में ठहरे। वहाँ पर विहार के प्रमुख भिक्षु रेवत से उनकी धर्मचर्चा हुई। वे भिक्षु रेवत के पाण्डित्य से प्रभावित हुए और माँ-बाप की आज्ञा लेकर उन्होंने भिक्षु रेवत से प्रव्रज्या ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने तिपिटक का अध्ययन किया। अध्ययन करते समय उन्हें यह अनुभूति हुई कि यही बुद्ध-शासन मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। बाद में उनके घोस को बुद्ध के समान जानकर भिक्षुसंघ ने उन्हें बुद्धघोस की उपाधि से विभूषित किया।

कृतियाँ : तिपिटक के अध्ययन के बाद इन्होंने सर्वप्रथम ञाणोदय (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। तत्पश्चात् धम्मसङ्गणि नामक अभिधम्मपिटक के ग्रन्थ

सातवाँ अध्याय

अट्ठकथा (व्याख्या) एवं टीका-साहित्य

तृतीय धम्मसंगीति में तिपिटक के अन्तिम रूप में आ जाने के बाद विदेशों में बुद्ध-धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजने का निश्चय किया गया और इसी निश्चय के अनुसार अशोक के पुत्र महेन्द्र स्थविर को लंका द्वीप भेजा गया। उनके साथ इट्टिय, उत्तिय, सम्बल एवं भद्दसाल नामक चार भिक्षु भी गये थे। उसके कुछ समय बाद भिक्षुणी संघमित्रा (राजा अशोक की पुत्री) ग्यारह भिक्षुणियों के साथ लंका पहुँची। इन भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों ने लंका में बौद्धधर्म का प्रचार किया और कण्ठस्थ रूप में अपने साथ लाये बुद्ध-वचनों को सुरक्षित रखा। यह कण्ठस्थ-परम्परा ई० पू० प्रथम शताब्दी तक विद्यमान रही। लंका के राजा वट्टगामणि (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समय यह अनुभव किया गया कि इतने विशाल तिपिटक को कण्ठस्थ-परम्परा के सहारे अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है, अतः वट्टगामणि के समय लिपिबद्ध कर दिया गया।

सिंहली अट्ठकथा-साहित्य

भारत में तिपिटक के साथ-साथ उसकी व्याख्या भी कण्ठस्थ-परम्परा में विद्यमान थी। इस प्रकार की व्याख्याओं में से कुछ को तो तिपिटक में स्थान दिया गया है। जब महेन्द्र लंका गये थे तो वे अपने साथ तिपिटक के साथ उसके व्याख्या-साहित्य को भी ले गये थे। तिपिटक को तो मूल पालि भाषा में ही लिपिबद्ध किया गया, किन्तु अट्ठकथा-साहित्य का सिंहली भाषा में अनुवाद कर उसे लिपिबद्ध किया गया। इस अनुवाद में जहाँ कहीं गाथा-भाग था, उसे पालि भाषा के रूप में ही सुरक्षित रखा गया। सिंहली भाषा में अनूदित इन्हीं अट्ठकथाओं को प्राचीन अट्ठकथाओं के रूप में जाना जाता है। इनमें प्रमुख अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं—१. महाअट्ठकथा, २. कुरुन्दीअट्ठकथा, ३. पच्चरिअट्ठकथा, ४. अन्धकअट्ठकथा तथा ५. संखेपअट्ठकथा। इनमें से महाअट्ठकथा नामक सुत्तपिटक की अट्ठकथा सारे निकायों पर थी तथा कुरुन्दी तथा महापच्चरि क्रमशः विनय एवं अभिधम्मपिटक की अट्ठकथाएँ थीं। अन्धकअट्ठकथा का सम्बन्ध आन्ध्र से था जब कि संखेपअट्ठकथा संक्षिप्त व्याख्या रही होगी।

पालि अट्ठकथा-साहित्य

ईसा की चतुर्थ शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय पालि के ग्रन्थ-लेखन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। इस काल में दीपवंस एवं महावंस नामक दो महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थों की रचना की गयी है, जिनका विवेचन वंस-साहित्य के प्रसङ्ग में अगले अध्याय में किया जायगा। सिंहली भाषा में विद्यमान तिपिटक की अट्ठकथाओं का पालि-रूपान्तर किया गया एवं अट्ठकथाओं को आधार बनाकर टीकाएँ लिखी गयीं। यह काल लंका में पालि के ग्रन्थ-लेखन का काल था। अतः महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस काल की पालि-ग्रन्थ-लेखन की गतिविधियों को 'सिंहल में पालि' शीर्षक से अपने इतिहास में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर पालि अट्ठ-कथाकारों के क्रम से पालि अट्ठकथा-साहित्य पर प्रकाश डाला जा रहा है। पालि के अट्ठकथाकारों में आचार्य बुद्धघोस, बुद्धदत्त, धम्मपाल, महानाम एवं उपसेन प्रमुख हैं। अन्य अट्ठकथाकारों में आनन्द, चुल्लधम्मपाल, काश्यप, वजिरबुद्धि, खेम, अनुरुद्ध, धम्मसिरि एवं महासामि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य बुद्धघोस

आचार्य बुद्धघोस ने पालि-साहित्य की अभिवृद्धि में जो योगदान दिया, वह अनुपम है। उनके कार्यों को देखकर यह आश्चर्य होता है कि इस व्यक्ति ने अपने जीवन में इतना सारा काम कैसे किया होगा। उनका जीवन बुद्ध-शासन को चिरस्थायी बनाने के लिए समर्पित था। वे युग-प्रवर्तक थे। इसी कारण आचार्य बुद्धघोस के काल को इतिहासकारों ने बुद्धघोस-युग की संज्ञा प्रदान की है।

जीवन-परिचय : इनका जन्म महाबोधि (बोधिवृक्ष) के समीप 'मोरण्ड खेटक' नामक ग्राम के ब्राह्मण कुल में हुआ था। प्रारम्भ में ये ब्राह्मण शिल्प एवं तीनों वेदों के ज्ञाता तथा वाद-विवाद में निपुण थे। मुक्ति के मार्ग की जिज्ञासा को लिये हुए इन्होंने अनेक स्थलों पर वाद-विवाद किया था। एक दिन ये बोधगया के विहार में ठहरे। वहाँ पर विहार के प्रमुख भिक्षु रेवत से उनकी धर्मचर्चा हुई। वे भिक्षु रेवत के पाण्डित्य से प्रभावित हुए और माँ-बाप की आज्ञा लेकर उन्होंने भिक्षु रेवत से प्रव्रज्या ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने तिपिटक का अध्ययन किया। अध्ययन करते समय उन्हें यह अनुभूति हुई कि यही बुद्ध-शासन मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। बाद में उनके घोस को बुद्ध के समान जानकर भिक्षुसंघ ने उन्हें बुद्धघोस की उपाधि से विभूषित किया।

कृतियाँ : तिपिटक के अध्ययन के बाद इन्होंने सर्वप्रथम ञाणोदय (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। तत्पश्चात् धम्मसङ्गणि नामक अभिधम्मपिटक के ग्रन्थ

पर अट्ठसालिनी नाम की अट्ठकथा लिखी। इसके पश्चात् उन्होंने पूरे तिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखने का विचार किया। इस विचार को जानकर उनके गुरु रेवत ने कहा कि "लंका से यहाँ केवल मूल पालि (तिपिटक) ही लायी गयी है, अट्ठकथाएँ यहाँ नहीं हैं। इसी प्रकार विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु सिंहली भाषा में महास्थविर महेन्द्र द्वारा संग्रहीत अट्ठकथाएँ, जो तीनों संगीतियों में विद्यमान थीं, शुद्ध रूप में लंका में हैं। तुम वहाँ जाओ और उनको सुनकर मागधी (पालि) भाषा में उनका अनुवाद कर डालो। वे अट्ठकथाएँ सारे संसार को हितकारी होंगी।"

इस प्रकार अपने गुरु आचार्य रेवत स्थविर की आज्ञा पाकर बुद्धघोस लंका गये। उस समय लंका में महानाम नामक राजा का शासन चल रहा था। वहाँ अनुराधपुर के महाविहार में जाकर उन्होंने संघपाल स्थविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्थविर-वाद की परम्परा को सुना। जब आचार्य बुद्धघोस को निश्चय हो गया कि यही धर्म-स्वामी बुद्ध का सही अभिप्राय है तो उन्होंने सम्पूर्ण भिक्षुसंघ को एकत्रित कर प्रार्थना की कि "मैं तीनों पिटकों की अट्ठकथाओं का मागधी में रूपान्तर करना चाहता हूँ। मुझे सिंहली भाषा में विद्यमान अट्ठकथाएँ दी जायँ।"

उस समय महाविहार के भिक्षु जिस किसी के लिए अपने पुस्तकालय के द्वार नहीं खोलते थे। अतः प्रारम्भ में उन्होंने आचार्य बुद्धघोस की योग्यता की परीक्षा करने के लिए निम्नलिखित दो प्रसिद्ध गाथाएँ व्याख्या के लिए प्रस्तुत कीं—

अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं॥
सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति॥

बुद्धघोस ने इन दोनों गाथाओं की व्याख्यास्वरूप 'विसुद्धिमग्ग' नामक विशाल एवं गम्भीर ग्रन्थ की रचना की, जिसमें बौद्ध-दर्शन के आधारभूत शील, समाधि एवं प्रज्ञा की विस्तृत व्याख्या है।

बुद्धघोस द्वारा विसुद्धिमग्ग के रूप में प्रस्तुत व्याख्या को देखकर महाविहारवासी भिक्षुसंघ अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने आचार्य बुद्धघोस के लिए सिंहली अट्ठकथाओं के साथ सब ग्रन्थ दे दिये। बुद्धघोस ने महाविहार के ग्रन्थागार परिवेण में बैठकर सभी सिंहली अट्ठकथाओं का पालि में रूपान्तर किया। उन्होंने अट्ठकथाओं के पालि-रूपान्तर करने में महाअट्ठकथा (चारों निकायों की अट्ठकथा), कुरुन्दी (विनय-

अट्ठकथा) तथा महापच्चरि (अभिधम्म-अट्ठकथा) को प्रमुख आधार बनाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्धक-अट्ठकथा तथा संखेप-अट्ठकथा से भी सहायता ली।

बुद्धघोस के ग्रन्थों की सूची

आचार्य बुद्धघोस द्वारा विरचित सभी ग्रन्थों का विस्तार से वर्णन करना सम्भव नहीं है, अतः यहाँ उनके ग्रन्थों की मात्र सूची प्रस्तुत की जा रही है :—

१. ञाणोदय	अप्राप्त
२. विसुद्धिमग्ग	संयुत्तनिकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में लिखा गया स्वतन्त्र ग्रन्थ
३. समन्तपासादिका	विनयपिटक की अट्ठकथा
४. कंखावितरणी	पातिमोक्ख की अट्ठकथा
५. सुमङ्गलविलासिनी	दीघनिकाय की अट्ठकथा
६. पपञ्चसूदनी	मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा
७. सारत्थपकासिनी	संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा
८. मनोरथपूरणी	अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
९. परमत्थजोतिका	खुद्दकनिकाय के खुद्दकपाठ एवं सुत्तनिपात की अट्ठकथा
१०. अट्ठसालिनी	धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा
११. सम्मोहविनोदनी	विभङ्ग की अट्ठकथा
१२. पञ्चप्पकरणट्ठकथा	धम्मसङ्गणि एवं विभङ्ग को छोड़कर अभिधम्म-पिटक के शेष पाँच ग्रन्थों की अट्ठकथा
१३. जातकट्ठवण्णना	जातक की अट्ठकथा
१४. धम्मपदट्ठकथा	धम्मपद की अट्ठकथा

पूर्वोक्त ग्रन्थों तथा अट्ठकथाओं में से समन्तपासादिका, सुमंगलविलासिनी, पपञ्चसूदनी, सारत्थपकासिनी तथा मनोरथपूरणी क्रमशः बुद्धश्री, दाठानाग, बुद्धमित्र, ज्योतिपाल एवं भदन्त नामक स्थविरों के अनुरोध पर लिखी गयी हैं।

अन्य ग्रन्थ : कहा जाता है कि बुद्धघोस ने लंका-गमन के पूर्व ञाणोदय के अतिरिक्त तिपिटक पर संक्षिप्त अट्ठकथा भी लिखी थी। सासनवंस के अनुसार इन्होंने पिटकत्तयलक्खण नामक ग्रन्थ भी लिखा था, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है।

काल : आचार्य बुद्धघोस लंका में अपना कार्य सम्पन्न करने के बाद भारत लौट आये और महाबोधिवृक्ष की पूजा की। उनका देहान्त सन् ४४० ई० के लगभग हुआ। विद्वानों ने उनका जीवन-काल सन् ३८० ई० से सन् ४४० ई० तक माना है।

महत्त्व : बुद्धघोस की कृतियों को देखकर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्होंने स्थविरवाद एवं पालि में क्या योगदान दिया है। यदि आचार्य बुद्धघोस ने अपने इस महान् योगदान को न किया होता तो सम्भवतः आज पालि तिपिटक के वास्तविक अर्थ को गम्भीरता से समझना कठिन हो जाता। इसके अतिरिक्त उनकी अट्ठकथाओं में एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि इनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी प्रस्तुत किया गया है। इससे पाठक को तत्कालीन भारत की दार्शनिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति को समझने में सहायता मिलती है। अट्ठकथाओं की इस ऐतिहासिक भूमिका में प्रदत्त सूचनाएँ अन्य किसी स्रोत से उपलब्ध नहीं होती हैं। यही तथ्य आचार्य बुद्धघोस एवं उनकी अट्ठकथाओं के महत्त्व को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है।

बुद्धदत्त

अट्ठकथाकारों में बुद्धघोस के बाद बुद्धदत्त का नाम उल्लेखनीय है। ये दक्षिणी भिक्षु थे तथा कावेरी नदी के किनारे कावीर नामक घाट पर बने विहार में रहते थे। इनका जन्म चोल प्रदेश के उरगपुर नगर में हुआ था। ये बुद्धघोस से पहले ही बुद्ध-वचनों के अध्ययन के लिए लंका गये थे और वहाँ इन्होंने अनुराधपुर में स्थित महा-विहार में अपना अध्ययन पूर्ण किया था।

बुद्धघोसुप्पत्ति तथा सासनवंस के अनुसार बुद्धदत्त जिस नाव से लंका से भारत आ रहे थे उसका मिलान उस नाव से हो गया, जिसमें बैठकर बुद्धघोस लंका जा रहे थे। अपनी संक्षिप्त बातचीत में इन्होंने बुद्धघोस से कहा था कि "तुम सिंहली अट्ठकथाओं का पालि-रूपान्तर करने के बाद उनकी प्रतियाँ मेरे पास भेज देना, जिससे कि मैं उन्हें संक्षिप्त रूप में लिख सकूं।" बुद्धदत्त एवं बुद्धघोस की इस मुलाकात से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं—पहला यह कि बुद्धदत्त बुद्धघोस के समकालिक और सम्भवतः आयु में बड़े भी थे और दूसरा यह कि बुद्धदत्त की अट्ठकथाएँ बुद्धघोसकृत अट्ठकथाओं पर आधारित थीं। अतः जब बुद्धघोस ने अट्ठकथा-सम्बन्धी लेखन-कार्य समाप्त कर लिया था, तब बुद्धदत्त का लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ था।

बुद्धदत्त ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—

१. विनयविनिच्छय— यह बुद्धघोसकृत समन्तपासादिका नामक विनयपिटक की अट्ठकथा का पद्यबद्ध संक्षिप्त रूप है। इसमें ३१ अध्याय हैं तथा उनमें ३१८३ गाथाएँ हैं।

२. उत्तरविनिच्छय—यह भी विनयविनिच्छय के समान समन्तपासादिका का

संक्षिप्त पद्य-रूपान्तर है। यह सिंहल के 'उत्तर विहार' की परम्परा के आधार पर लिखा गया अट्ठकथा-ग्रन्थ है। इसमें २३ अध्यायों में विभक्त ९६९ गाथाएँ हैं।

३. अभिधम्मावतार—बुद्धघोसकृत अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों पर लिखी गयी अट्ठकथाओं के आधार पर गद्य-पद्यमिश्रित शैली में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ बुद्धघोस ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के रूप में धर्मों के विभाजन को अपने विवेचन का आधार बनाया है, वहीं बुद्धदत्त ने चित्त, चेतसिक, रूप एवं निर्वाण—इस विभाजन के आधार पर धर्मों का विवेचन किया है।

४. रूपारूपविभाग—यह भी अभिधम्मावतार जैसी अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है तथा इसमें भी चित्त, चेतसिक, रूप एवं निर्वाण का विवेचन है, इसे रूप और अरूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

५. मधुरत्थविलासिनी—यह खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत बुद्धवंस की अट्ठकथा है।

बुद्धदत्त के उक्त अट्ठकथा-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि बुद्धदत्त उत्तम कोटि के कवि थे। उन्होंने समन्तपासादिका जैसे विशाल अट्ठकथा-ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप पद्यशैली में प्रस्तुत किया है। विशाल ग्रन्थ को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना भी एक गुण है और आचार्य बुद्धदत्त अपने इसी गुण के कारण पालि-साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना सके।

धम्मपाल

पालि के प्रमुख अट्ठकथाकारों में बुद्धघोस एवं बुद्धदत्त के अतिरिक्त धम्मपाल का नाम उल्लेखनीय है। बुद्धघोस ने जिन ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ नहीं लिखी हैं, उन पर धम्मपाल ने लिखकर एक प्रकार से बुद्धघोस के काम को ही पूरा किया है।

जीवन-परिचय : धम्मपाल का जन्म तमिल प्रदेश के काञ्चीपुर नामक स्थान में हुआ था। इन्होंने दक्षिण भारत के नागपट्टन में धर्माशोक द्वारा बनवाये बदरतित्थ नामक विहार में रहकर धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था। धम्मपाल ने भी अपनी अट्ठकथाओं में सिंहल के अनुराधपुर स्थित महाविहार की अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है तथा बुद्धघोस जैसी शैली को अपनाया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि धम्मपाल भी सिंहल के अनुराधपुर स्थित महाविहार में गये थे। इन्होंने अपनी अट्ठकथाएँ बुद्धघोस के बाद लिखी हैं। विसुद्धिमग्ग पर धम्मपाल द्वारा लिखी गयी परमत्थमञ्जूसा नामक अट्ठकथा उक्त तथ्य की पुष्टि करती है। अतः धम्मपाल का समय ईसा की ५-६ठीं शताब्दी होना चाहिए।

रचनाएँ : गन्धवंस में खुद्दकनिकाय के प्रत्येक ग्रन्थ की अट्ठकथा को पृथक् ग्रन्थ मानते हुए धम्मपाल के ग्रन्थों की संख्या चौदह बतलायी गयी है। किन्तु विद्वानों ने उन्हीं ग्रन्थों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है—

१. परमत्थदीपनी : खुदकनिकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा, जिन पर बुद्धघोस ने अट्ठकथा नहीं लिखी है। फलतः इसमें उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एवं चरियापिटक की अट्ठकथाओं का समावेश है।

२. परमत्थमञ्जूसा या महाटीका : विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा।

३. नेत्तिप्पकरणस्स अत्थसंवण्णना : नेत्तिपकरण की अट्ठकथा।

४. लीनत्थवण्णना : नेत्तिपकरण अट्ठकथा की टीका।

५. लीनत्थपकासिनी : बुद्धघोसकृत सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों की अट्ठकथाओं की टीका।

६. लीनत्थपकासिनी : जातकट्ठकथा की टीका।

७. मधुरत्थविलासिनी टीका : बुद्धदत्त द्वारा लिखित बुद्धवंस की मधुरत्थविलासिनी अट्ठकथा की टीका।

८. अभिधम्मट्ठकथाय टीकाय अनुटीका।

उपर्युक्त ग्रन्थों में से परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा-ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। शेष ग्रन्थों में से कुछ तो उपलब्ध नहीं हैं और कुछ के विषय में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि इन सभी के लेखक धम्मपाल एक ही व्यक्ति थे। सम्भव है, चार निकायों पर लिखी गयी अट्ठकथाओं की टीका के लेखक धम्मपाल नामक अन्य व्यक्ति हों।

महानाम

बुद्धघोस, बुद्धदत्त एवं धम्मपाल के अतिरिक्त इस युग के अन्य अट्ठकथाकारों में महानाम एवं उपसेन के नाम उल्लेखनीय हैं। कारण, इन्होंने भी त्रिपिटक के ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ लिखी हैं।

महानाम अनुराधपुर (सिंहल) के महाविहार में उत्तरमन्त्री द्वारा निर्मित परिवेण में रहते थे। इन्होंने पटिसम्भिदामग्ग की सद्धम्मप्पकासिनी नामक अट्ठकथा लिखी है। इन्होंने अपनी शैली में बुद्धघोस का अनुसरण किया है। महावंस के मूल भाग के लेखक का भी नाम महानाम है और कुछ विद्वान् उसे इन्हीं की रचना बतलाते हैं।

उपसेन

उपसेन अनुराधपुर (सिंहल) में महाचैत्य के पश्चिम में सचिव भक्तिसेन द्वारा बनवाये गये महापरिवेण के प्रमुख थे। वहाँ रहते हुए इन्होंने खुद्दकनिकाय के ग्रन्थ निद्देस की सद्धम्मजोतिका नामक अट्ठकथा लिखी है।

उपर्युक्त पाँच अट्ठकथाकारों के अतिरिक्त जिन्होंने तिपिटक के ग्रन्थों या उनकी अट्ठकथाओं पर ग्रन्थ-रचना की है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

आनन्द : ये भारतीय भिक्षु थे तथा इन्होंने अभिधम्म की अट्ठकथाओं पर मूलटीका या अभिधम्ममूलटीका नामक टीका-ग्रन्थ लिखा है। अभिधम्म की अट्ठकथाओं पर लिखे गये टीका-ग्रन्थों में यह प्राचीनतम है। कहा जाता है कि यह टीका-ग्रन्थ बुद्धमित्त के कहने पर लिखा गया था। यदि ये वही बुद्धमित्त हैं, जिनके कहने पर बुद्धघोस ने पपञ्चसूदनी नामक अट्ठकथा लिखी थी, तो आनन्द बुद्धघोस के समकालीन थे। **चुल्लधम्मपाल** आनन्द के शिष्य थे तथा इन्होंने सच्चसंखेप नामक ग्रन्थ लिखा है। **कस्सप** नामक भिक्षु ने मोहविच्छेदनी एवं विमतिच्छेदनी नामक ग्रन्थों की रचना की है। **वजिरबुद्धि** नामक भिक्षु ने समन्तपासादिका पर वजिरबुद्धि नामक टीका-ग्रन्थ लिखा है। गन्धवंस में वजिरबुद्धि नाम के दो भिक्षुओं का उल्लेख है—**महावजिरबुद्धि** एवं **चुल्लवजिरबुद्धि**। इनमें से प्रथम को विनयगण्ठि नामक ग्रन्थ का प्रणेता बतलाया गया है, जब कि द्वितीय को अत्थब्यक्खान नामक ग्रन्थ का। ये दोनों भारतीय भिक्षु थे। **खेम** ने खेमप्पकरण ग्रन्थ की रचना की है। **अनुरुद्ध** ने अभिधम्मत्थसंग्रह नामक अभिधम्म-साहित्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि १२वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ पर सर्वाधिक भिक्षुओं ने अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने अभिधम्म पर ही परमत्थविनिच्छय एवं नामरूपपरिच्छेद नामक दो अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। इन पर भी बाद में टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त **धम्मसिरि** एवं **महीसामि** के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने विनयसम्बन्धी अट्ठकथा-साहित्य के आधार पर क्रमशः खुद्दसिक्खा एवं मूलसिक्खा नामक ग्रन्थ लिखे हैं। ये विनय के संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ हैं। इनका अधिकांश भाग गाथाओं में है। इनकी विभिन्न टीकाएँ एवं सिंहली अनुवाद भी उपलब्ध होते हैं। इन दोनों ग्रन्थों को ११वीं शताब्दी ई० के बाद की रचना माना गया है।

इस युग में तिपिटक के ग्रन्थों पर लिखी गयी अट्ठकथाओं की तालिका इस प्रकार हैं—

मूल पालि	अट्ठकथा	लेखक
	विनयपिटक	
पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग, परिवार	समन्तपासादिका	बुद्धघोस
पातिमोक्ख	कङ्खावितरणी	,,
	सुत्तपिटक	
दीघनिकाय	सुमङ्गलविलासिनी	,,
मज्झिमनिकाय	पपञ्चसूदनी	,,
संयुत्तनिकाय	सारत्थप्पकासिनी	,,
अङ्गुत्तरनिकाय	मनोरथपूरणी	,,
खुद्दकनिकाय		
खुद्दकपाठ	परमत्थजोतिका	,,
धम्मपद	धम्मपदट्ठकथा	,,
उदान	परमत्थदीपनी	धम्मपाल
इतिवुत्तक	,,	,,
सुत्तनिपात	परमत्थजोतिका	बुद्धघोस
विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा	परमत्थदीपनी	धम्मपाल
जातक	जातकट्ठवण्णना	बुद्धघोस
निद्देस	सद्धम्मजोतिका	उपसेन
पटिसम्भिदामग्ग	सद्धम्मप्पकासिनी	महानाम
अपदान	अपदानस्सअट्ठकथा	बुद्धघोस
बुद्धवंस	मधुरत्थप्पकासिनी	बुद्धदत्त
चरियापिटक	परमत्थदीपनी	धम्मपाल
	अभिधम्मपिटक	
धम्मसङ्गणि	अट्ठसालिनी	बुद्धघोस
विभङ्ग	सम्मोहविनोदनी	,,
कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, यमक, पट्ठान	पञ्चप्पकरणट्ठकथा	,,

पालि-साहित्य के विकास पर राजनीतिक अस्थिरता का प्रभाव

अट्ठकथा-युग के पश्चात् ६०० ईसवी से १००० ईसवी तक का समय पालि-साहित्य में अन्धकार-युग के रूप में स्मरण किया जाता है। कारण, उक्त अवधि में लंका द्वीप में राजनीतिक अस्थिरता के कारण नये ग्रन्थों का प्रणयन अवरुद्ध-सा हो गया था। अतः अट्ठकथा-साहित्य के काल के बाद का पालि-साहित्य का इतिहास लिखने के पूर्व लंका द्वीप की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ आवश्यक है।

जिस समय राजा अशोक के पुत्र स्थविर महेन्द्र लंका द्वीप पहुँचे उस समय वहाँ की राजधानी अनुराधपुर थी। स्थविर महेन्द्र ने अनुराधपुर में ही महाविहार की स्थापना की थी। यही महाविहार अट्ठकथा-युग तक पालि-साहित्य की विभिन्न गति-विधियों का प्रमुख केन्द्र था। राजनीतिक स्थिरता एवं सशक्त राजाओं के होने से वहाँ तिपिटक का मौखिक परम्परा में संरक्षण और तत्पश्चात् वट्टगामणि अभय के समय में उसका लेखन-कार्य सम्पन्न हुआ, दीपवंस एवं महावंस जैसे इतिहास-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ और बाद में सिंहली भाषा में विद्यमान तिपिटक की अट्ठकथाओं का पालि-रूपान्तर हुआ। किन्तु उसके वाद द्रविड़ों के आक्रमणों से द्वीप प्रभावित होने लगा। प्रारम्भ में तो द्रविड़ों का ध्यान इस द्वीप की ओर नहीं गया, किन्तु जब द्वीप विकसित हो गया तब दक्षिण भारत एवं लंका द्वीप के मध्य में स्थित २० मील का छिछला समुद्र द्रविड़ों को लंकावासियों के साथ छेड़खानी करने से नहीं रोक सका। द्रविड़ों ने लंका द्वीप पर कई बार आक्रमण किया और सत्ता भी पायी। उनके शासन-काल में लंका के बौद्ध धर्म को क्षति पहुँची और साहित्यिक गतिविधियाँ प्रभावित हुईं।

द्रविड़ों द्वारा उत्पन्न की गयी राजनीतिक अस्थिरता से निपटने के लिये लंका की राजधानी को अनुराधपुर से हटाकर पोलन्नरुव ले जाया गया। लंका के राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११५३ ई०—११८६ ई०) ने भी इसे सुशोभित किया। यह राजा कुशल शासक तो था ही, विद्यानुरागी भी था। इसका शासन-काल पालि-साहित्य के विकास में अत्यधिक सहायक हुआ। इस काल को पालि-साहित्य के इतिहास का स्वर्णिम युग कह सकते हैं। इस युग के प्रमुख साहित्यिकों में संघराज महाकस्सप, वैयाकरण मोग्गल्लान एवं टीकाकार सारिपुत्त के नाम उल्लेखनीय हैं। राजा पराक्रम-बाहु प्रथम के समय एक बौद्ध-संगीति का आयोजन किया गया तथा उसमें अट्ठकथाओं पर टीका-साहित्य लिखवाने का महत्त्वपर्ण निर्णय लिया गया। इस काल में काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र आदि से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, किन्तु टीका-साहित्य का प्रणयन इस युग की प्रमुख विशेषता थी।

पराक्रमबाहु प्रथम के पश्चात् लंका में पुनः एक बार राजनीतिक अस्थिरता आयी। कारण, पराक्रमबाहु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में इतनी शक्ति न रही कि वे राज्य को सँभाल सकें। इसके अतिरिक्त आपसी फूट एवं षड्यन्त्रों के कारण कोई भी राजा अधिक दिनों तक राजगद्दी पर नहीं टिक सका था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ११८७ ई० से १२१४ ई० तक के २७ वर्षों के अल्पकाल में १३ राजाओं ने राज्य किया। लंका की राजनीतिक अस्थिरता एवं आपसी फूट का फायदा कलिंग के लोगों ने उठाया। उन्होंने लंका पर आक्रमण कर दिया और १२१४ ई० में उनका सेनापति माघ वहाँ का राजा बन गया। उसका शासन कठोर एवं अत्याचारों से परिपूर्ण रहा। इससे बौद्ध धर्म एवं पालि-साहित्य की क्षति हुई। धर्मध्वंसक माघ को लंकावासियों ने भी चैन से नहीं रहने दिया और उसके शासन को समाप्त करने के लिये तत्कालीन राजा विजयबाहु १२३२ ई० में अपनी राजधानी पोलन्नरुव से हटाकर जम्बुद्रोणि ले गया। १२३५ ई० में माघ के शासन का उच्छेद हुआ और १२३६ ई० में पराक्रमबाहु द्वितीय लंका का शासक बना। उसने बौद्ध धर्म एवं पालि-साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिये विभिन्न उपाय किये। उदाहरणस्वरूप उसने भिक्षुओं में उत्पन्न आचार-शैथिल्य को हटाने के लिए बौद्ध-संगीति का आयोजन करवाया, पालि-साहित्य में अभिवृद्धि हेतु अन्य देशों से विद्वान् भिक्षुओं को बुलवाया तथा भिक्षुओं के उच्च शिक्षण की व्यवस्था की। स्थविर धम्मकित्ति एवं दीपंकर बुद्धप्पिय उसी के आमन्त्रण पर लंका पहुँचे थे। अन्य स्थविरों में अनोमदस्सी, आरञ्ञकमेधंकर, वेदेह, वनरतन, आनन्द आदि ग्रन्थकर्ताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। पराक्रमबाहु द्वितीय भी उच्चकोटि के विद्वान् थे। ये कलिकालसाहिच्च सब्बञ्ञूपण्डित (कलिकाल-साहित्य सर्वज्ञ पण्डित) की उपाधि से विभूषित हुए। इन्होंने विसुद्धिमग्ग तथा विनयविनिच्छय पर टीकाएँ लिखीं एवं काव्यचूड़ामणि आदि काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया।

लंका में पराक्रमबाहु प्रथम के समय से पालि-ग्रन्थों के प्रणयन की जो परम्परा प्रारम्भ हुई वह चौदहवीं शताब्दी तक अनवरत रूप से चलती रही। पन्द्रहवीं शताब्दी में लंका पुनः अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा। फलतः वहाँ ग्रन्थ-प्रणयन की परम्परा खण्डित हो गयी। उन्नीसवीं शताब्दी में पुनः उसी ग्रन्थ-प्रणयन एवं प्राचीन साहित्य-के संरक्षण की परम्परा प्रारम्भ हुई, और वह आज तक विद्यमान है।

इधर पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी से बरमा पालि-साहित्य के संरक्षण एवं ग्रन्थ-रचना का प्रमुख केन्द्र बन गया। बरमा तथा थाई में भिक्षुओं द्वारा कविता करना अनुचित समझा जाता रहा है। अतः बरमा के पण्डित भिक्षुओं ने अपने ग्रन्थ-लेखन का मुख्य विषय अभिधर्म एवं व्याकरण को चुना। बौद्धधर्म के इतिहास से सम्बद्ध ग्रन्थ भी यहाँ रचे गये।

लंका की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् यहाँ पालि-साहित्य में उपलब्ध टीका-ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। पालि भाषा में अट्ठकथा-साहित्य की भाँति टीका-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। तिपिटक के ऊपर लिखी गयी अट्ठकथाओं एवं अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गयी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ संग्रह-ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ है जिन्हें टीका-ग्रन्थों का ही दूसरा रूप कह सकते हैं।

टीका-साहित्य

पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल (११५३ ई०–११८६ ई०) में साहित्यिक-गतिविधियाँ अपने चरमोत्कर्ष पर थीं। उसकी देखरेख में सम्पन्न बौद्ध-संगीति में पालि अट्ठकथाओं पर टीकाएँ प्रस्तुत करने का संकल्प किया गया। इस संगीति का संयोजन संघराज महाकस्सप ने किया था। परिणामस्वरूप महाकस्सप के शिष्य सारिपुत्त ने इस महान् कार्य को सम्पन्न किया। पालि भाषा में लिखी गयी टीकाओं का विवरण इस प्रकार है—

१. **सारत्थदीपनी** : समन्तपासादिका (विनयपिटक की अट्ठकथा) की टीका।
२. **पठम-सारत्थमञ्जूसा** : सुमङ्गलविलासिनी (दीघनिकाय की अट्ठकथा) की टीका।
३. **दुतिय-सारत्थमञ्जूसा** : पपञ्चसूदनी (मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा) की टीका।
४. **ततिय-सारत्थमञ्जूसा** : सारत्थपकासिनी (संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा) की टीका।
५. **चतुत्थ-सारत्थमञ्जूसा** : मनोरथपूरणी (अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा) की टीका।
६. **पठम-परमत्थप्पकासिनी** : अट्ठसालिनी (धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा) की टीका।
७. **दुतिय-परमत्थप्पकासिनी** : सम्मोहविनोदनी (विभङ्ग की अट्ठकथा) की टीका।
८. **ततिय-परमत्थप्पकासिनी** : पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा आदि अभिधम्मपिटक के शेष पाँच ग्रन्थों की अट्ठकथा) की टीका।

इन टीका-ग्रन्थों में से केवल सारत्थदीपनी आज उपलब्ध है। ऐसी मान्यता है कि उक्त सभी टीका-ग्रन्थों के प्रणेता सारिपुत्त थे। इनकी तीन अन्य रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं—१. लीनत्थपकासिनी (पपञ्चसूदनी की एक अन्य टीका), २. सारत्थ-

मञ्जूसा (मनोरथपूरणी की एक अन्य टीका) तथा ३. विनयसंगह (विनयसम्बन्धी नियमों का संग्रह) ।

टीका-ग्रन्थों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि सारिपुत्त का टीका-साहित्य के सृजन में ठीक वही स्थान है जो बुद्धघोस का अट्ठकथाओं के प्रणयन में है। सारिपुत्त संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे और प्रमाण-शास्त्र के विशेषज्ञ होने के कारण दिन्नाग एवं धर्मकीर्ति के ग्रन्थों से भी परिचित रहे होंगे। इन्होंने उस समय लंका में लोकप्रिय चान्द्रव्याकरण पर लिखी गयी रत्नमति-पञ्जिका पर 'पञ्जिकालंकार' नामक टीका-ग्रन्थ भी लिखा था।

सारिपुत्त के कार्य में उनके सुयोग्य शिष्यों ने भी हाथ बँटाया था। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है, कि "सारिपुत्त के नाम से अट्ठकथाओं की जो टीकाएँ प्राप्त हैं, उन सबके लेखक वे नहीं हो सकते और वस्तुतः उन्हें उनके शिष्यों ने लिखा होगा और तत्पश्चात् उनके गुरु ने उनका अवलोकन कर लिया होगा।" इसके अतिरिक्त इनके जिन शिष्यों ने स्वतन्त्र टीका-ग्रन्थों की भी रचना की थी उनके नाम इस प्रकार हैं—

संघरक्खित : इनकी एकमात्र रचना खुद्दकसिक्खाटीका है। यह धम्मसिरि-कृत खुद्दकसिक्खा की टीका है। इसे अभिनवखुद्दकसिक्खाटीका भी कहते हैं। कारण, संघरक्खित से पहले महायस ने भी खुद्दकसिक्खा पर टीका-ग्रन्थ लिखा है और वह पोराणखुद्दकसिक्खा टीका के नाम से जाना जाता है। ये दोनों टीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में लंका में सुरक्षित हैं।

बुद्धनाग : इन्होंने विनयत्थमञ्जूसा नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह कंखा-वितरणी (पातिमोक्ख की अट्ठकथा) की टीका है। यह टीका भी लंका में हस्त-लिखित प्रति के रूप में सुरक्षित है।

वाचिस्सर : गन्धवंस में इनके अठारह ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इनके टीका-ग्रन्थ, जो आज भी हस्तलिखित प्रति के रूप में सुरक्षित हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. **मूलसिक्खाटीका :** यह महासामिकृत मूलसिक्खा की टीका है। वाचिस्सर से पहले विमलसार ने भी मूलसिक्खा पर एक टीका-ग्रन्थ लिखा था। अतः विमलसारकृत टीका को मूलसिक्खापोराण-टीका तथा वाचिस्सरकृत टीका को मूलसिक्खा अभिनव-टीका कहा जाता है।

२. **सीमालंकार संगह :** यह विनय-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें विहार की सीमा-सम्बन्धी नियमों का निरूपण है। किसी विशेष उपोसथ आदि अवसरों पर जहाँ तक के भिक्षु किसी एक विहार में एकत्रित हों वह उस विहार की सीमा कहलाती है।

३. खेमप्पकरण-टीका : यह भिक्षु खेम द्वारा प्रणीत खेमप्पकरण की टीका है।

४. नामरूपपरिच्छेद-टीका : यह अनुरुद्धकृत नामरूपपरिच्छेद की टीका है।

५. सच्चसंखेप-टीका : यह चुल्लधम्मपालकृत सच्चसंखेप की टीका है।

६. अभिधम्मावतार-टीका : यह आचार्य बुद्धदत्तकृत अभिधम्मावतार की टीका है।

७. रूपारूपविभाग : यह अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है। इसमें पूर्वोक्त ग्रन्थों के समान विषयवस्तु है।

८. विनयविनिच्छय-टीका : यह बुद्धदत्तकृत विनयविनिच्छय की टीका है।

९. उत्तरविनिच्छय-टीका : यह भी बुद्धदत्तकृत उत्तरविनिच्छय की टीका है।

१०. सुमंगलप्पसादनी : यह धम्मसिरिकृत खुद्दकसिक्खा की टीका है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त योगविनिच्छय एवं पच्चयसंगह भी वाचिस्सर द्वारा रचित हैं। इस बात की पूरी सम्भावना है कि उपर्युक्त ग्रन्थ वाचिस्सर नामधारी अनेक विद्वानों की रचनाएँ हों। कारण, पालि-साहित्य में वाचिस्सर नाम के अनेक भिक्षु हुए हैं।

सुमंगल : इनकी निम्नलिखित तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—

१. अभिधम्मत्थविभावनी : अनुरुद्धकृत अभिधम्मत्थसंगह की टीका।

२. अभिधम्मत्थविकासनी : बुद्धदत्तकृत अभिधम्मावतार की टीका।

३. सच्चसंखेप-टीका : चुल्लधम्मपालकृत सच्चसंखेप की टीका। वाचिस्सर की सच्चसंखेप-टीका से विभक्त करने के लिए इसे अभिनव टीका कहा जाता है। ये तीनों टीकाएँ लंका में हस्तलिखित प्रतियों के रूप में सुरक्षित हैं।

सद्धम्मजोतिपाल या छपद : ये बरमी भिक्षु थे और बौद्ध धर्म की शिक्षा हेतु लंका आये थे। इन्होंने ११७० ई० से ११८० ई० तक लंका में सारिपुत्त के शिष्य रहकर अपनी शिक्षा पूर्ण की थी। इनकी चार विनयसम्बन्धी और चार अभिधम्म-सम्बन्धी रचनाएँ हैं और एक रचना में तिपिटक के ग्रन्थों का सार है। इनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. विनयसमुट्ठानदीपनी : विनयसम्बन्धी टीका-ग्रन्थ।

२. पातिमोक्खविसोधनी : पातिमोक्खसम्बन्धी टीका।

३. विनयगूव्हत्थदीपनी : विनयसम्बन्धी कठिन शब्दों की व्याख्या।

४. सीमालंकारसंगह-टीका : वाचिस्सरकृत सीमालंकारसंगह की टीका।

५. मातिकत्थदीपनी।

६. पट्ठानगणनानय ।
७. नामचारदीप ।
८. अभिधम्मत्थसंगहसंखेप-टीका ।
९. गन्धसार ।

सारिपुत्त के शिष्यों ने टीका-ग्रन्थों के अतिरिक्त वंस एवं काव्य-ग्रन्थों की भी रचना की थी जिनका विवरण वंस-साहित्य एवं काव्य-साहित्य के प्रसंग में आगे के अध्यायों में किया जायगा ।

बरमा में १५वीं शताब्दी ई० से १९वीं शताब्दी ई० तक टीका-साहित्य का प्रणयन होता रहा है, जो इस प्रकार है—

बरमा में प्रणीत टीका-साहित्य

ग्रन्थ	लेखक	समय
मणिसारमञ्जूसा (सुमंगलकृत अभिधम्मत्थविभावनी की टीका)	अरियवंस	१५वीं शताब्दी ई०
मणिदीप (अट्ठसालिनी की टीका)	,,	,,
जातकविसोधन (जातकसम्बन्धी रचना)	,,	,,
नेत्तिभावनी (नेत्तिप्पकरण की टीका)	सद्धम्मसिरि	,,
पट्ठान-दीपनी (पट्ठान की टीका)	सद्धम्मालंकार	१६वीं शताब्दी ई०
मधुसारत्थदीपनी (आनन्दकृत मूलटीका की अनुटीका)	महानाम	,,
वीसतिवण्णना (अट्ठसालिनी के आरम्भ की २० गाथाओं की टीका)	तिपिटकालंकार	१७वीं शताब्दी ई०
विनयालंकार (सारिपुत्तकृत विनयसंगह की टीका)	,,	,,
धातुकथाटीकावण्णना	तिलोक गुरु	,,
धातुकथा अनुटीका वण्णना	,,	,,
यमकवण्णना	,,	,,
पट्ठानवण्णना	,,	,,
धातुकथायोजना	सारदस्सी	,,
अभिधम्मत्थगण्ठि	महाकसप	,,
पेटकालंकार	ञाणाभिवंस	१८वीं शताब्दी ई०
साधुविलासिनी (दीघनिकाय की आंशिक व्याख्या)	,,	,,

ग्रन्थ	लेखक	समय
सीमाविवादविनिच्छय	?	१९वीं शताब्दी ई०
परमत्थदीपनी (अभिधम्मथसंगह की टीका)	लेदिसदाव	,,
अभिधम्मत्थसंगह की नवनीत-टीका	धम्मानन्द कोसम्बी	२०वीं शताब्दी ई०
विसुद्धिमग्गदीपिका	,,	,,

अट्ठकथा-साहित्य एवं टीका-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी यदि अट्ठकथा-साहित्य का युग था तो ईसा की बारहवीं शताब्दी टीका-साहित्य का। अट्ठकथा-साहित्य के मूलस्तम्भ आचार्य बुद्धघोस थे जब कि टीका-साहित्य के मुख्य प्रणेता स्थविर सारिपुत्त थे। अट्ठकथाओं का मूल आधार सिंहली भाषा में विद्यमान प्राचीन अट्ठकथाएँ थीं, जब कि टीका-साहित्य का मुख्य आधार अट्ठकथा-साहित्य था। यह टीका-साहित्य २०वीं शताब्दी तक लिखा जाता रहा है।

•

आठवाँ अध्याय

वंस एवं काव्य-साहित्य

लंका में तिपिटक, अट्ठकथा एवं टीका-साहित्य के अतिरिक्त जिस साहित्य का सृजन हुआ है उसमें वंस (वंश) साहित्य एवं काव्य-साहित्य का अपना स्थान है। वंस-साहित्य के अन्तर्गत उन सभी ग्रन्थों का समावेश होता है जो इतिहास-विषयक हैं, जब कि काव्य-साहित्य में उन ग्रन्थों को रखा गया है जिनको पढ़ने या सुनने से लोगों को रसानुभूति हो तथा जिनकी भाषा को गुणों एवं अलङ्कारों से सजाया-सँवारा गया हो। प्रारम्भ में केवल इतिहासपरक वंस ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, किन्तु कालान्तर में वंस ग्रन्थों को काव्यात्मक ढंग से लिखा जाने लगा। इस प्रकार के वंस-ग्रन्थों में महाबोधिवंस एवं दाठावंस के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्पश्चात् विशुद्ध काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। वंस-साहित्य से काव्य-साहित्य की ओर प्रवृत्त होने का कारण थेरवादी मान्यता ही थी। थेरवादी परम्परा ने रसात्मक वाक्यों एवं आलङ्कारिक भाषा को हेय दृष्टि से ही देखा है।

वंस-साहित्य का स्रोत : पालि-साहित्य में इतिहासविषयक ग्रन्थों के प्रणयन की प्रवृत्ति सहसा नहीं हुई, अपितु बुद्ध के अनुयायियों में ऐसी प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही रही है। चुल्लवग्ग में संकलित पहली एवं दूसरी धर्मसंगीतियों का विवरण इसी इतिहासविषयक प्रवृत्ति का परिचायक है। कथावत्थु की अट्ठकथा में विभिन्न बौद्ध-सम्प्रदायों से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य विद्यमान हैं। अन्य अट्ठकथाओं में भी भूमिका के रूप में ऐतिहासिक सामग्री दी गयी है। अट्ठकथाओं में आयी यही इतिहासविषयक सामग्री वंस-साहित्य का मूल स्रोत है।

वंस-ग्रन्थों का स्वरूप : वंस-साहित्य के ग्रन्थों की विषयवस्तु इतिहासविषयक होने पर भी उन्हें विशुद्ध इतिहासपरक ग्रन्थ नहीं कह सकते हैं। कारण, उनमें कुछ घटनाएँ श्रद्धाजनित प्रतीत होती हैं तो कुछ गढ़ी हुई-सी। जगह-जगह पर जो अनेक अलौकिक घटनाओं का चित्रण है वे भी रचयिताओं की कल्पना का परिणाम है। अतः वंस-साहित्य में जो कुछ भी आया है, उस सारी सामग्री को इतिहास न मानकर विवेकपूर्वक ही इतिहास-सम्बन्धी सामग्री को ग्रहण करना आवश्यक है।

वंस-साहित्य के इस स्वरूप के कारण कुछ विद्वान् इसकी तुलना संस्कृत के पुराण-इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों से करते हैं। किन्तु यह तुलना आंशिक रूप से सत्य

होते हुए भी ग्राह्य नहीं है। कारण, पुराणेतिहास के ग्रन्थों जैसी अलौकिकता की भरमार वंस-साहित्य के ग्रन्थों में नहीं है। इसके विपरीत वंस-ग्रन्थों में इतिहास-परक तथ्यों का ही आधिक्य है। इसके अतिरिक्त वंस-साहित्य के ग्रन्थों में उपलब्ध कालानुक्रम पाश्चात्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के कालानुक्रम से किसी भी तरह कम नहीं है।

वंस-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी विवरण में भिक्षुओं ने न केवल श्रीलंका को भारत से सम्बद्ध किया, अपितु उन्होंने श्रीलंका का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध से भी जोड़ा है। इस सम्बन्ध में जो तर्कसम्मत तथ्य हैं उन्हें देखने से स्पष्ट होता है कि वंस-ग्रन्थों में लंका सम्बन्धी इतिहासपरक तथ्यों के अतिरिक्त सारे भारतीय इतिहास की मूल सामग्री भी विद्यमान है।

रचनाकाल के अनुक्रम से वंस-साहित्य एवं काव्य-साहित्य के ग्रन्थों का क्रम इस प्रकार है—

दीपवंस

दीपवंस पालि वंस-साहित्य की पहली रचना है। इसमें प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं में विद्यमान ऐतिहासिक अंशों को काव्य का रूप देने का प्रयास किया गया है। आदिकाल से लेकर राजा महासेन के शासनकाल (३२५ ई०–३५२ ई०) तक का लंका का इतिहास इसमें वर्णित है। आचार्य बुद्धघोस ने अपनी अट्ठकथाओं में दीपवंस से उद्धरण दिये हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ईसा की चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा गया था। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह एक उपेक्षित साहित्यिक कृति प्रतीत होती है। विषय-सामग्री को व्यवस्थित रूप देने में लेखक सफल नहीं हुआ है। अनेक स्रोतों से प्राप्त विषय-सामग्री को मौलिक रूप में रखने के प्रयास में पुनरुक्तियों का होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार कोई घटना एक जगह संक्षेप में है तो दूसरी जगह विस्तार से वर्णित है। इससे नीरसता की प्रतीति होती है। भाषा मँजी हुई नहीं है। व्याकरण-सम्बन्धी दोषों से परिपूर्ण भाषा को देखने से यह स्पष्ट होता है कि लेखक का भाषा पर समुचित अधिकार नहीं था। शैली की दृष्टि से यह पद्यमय रचना है, किन्तु पद्य के बीच में गद्य का आ जाना अखरता है।

साहित्यिक दृष्टि से नीरस प्रतीत होनेवाला दीपवंस ऐतिहासिक तथ्यों से भरपूर है। इस ऐतिहासिक स्वरूप के कारण ही लंका में इसे राष्ट्रीय गौरव प्राप्त है। राजा धातुसेन ने एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर इस ग्रन्थ का पाठ कराकर इसका महत्त्व आँका था। सावधानी से ऐतिहासिक तथ्यों का चयन करने पर वे इतिहास-विशेषज्ञों को उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

महावंस

महावंस का अर्थ है महान् लोगों का इतिहास। इसके लेखक का नाम महानाम स्थविर है। संयोग की बात है कि इसकी टीका के रचयिता का नाम भी महानाम है। इससे कुछ लोग महावंस एवं उसकी टीका के रचयिता को एक ही मानते हैं; किन्तु यह निश्चित रूप से गलत है। कारण, महावंस राजा धातुसेन के समय (छठीं शताब्दी ईसवी के पूर्वार्ध) की रचना है, जब कि महावंस की टीका का रचना-काल १००० से १२०० ई० के मध्य है।

महावंस ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर अचानक समाप्त हो जाता है। कारण, उसके बाद महावंसो निट्ठितो अर्थात् महावंस समाप्त—ये शब्द पढ़ने को मिलते हैं। ग्रन्थ की इस आकस्मिक समाप्ति पर आश्चर्य होना स्वाभाविक है, किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि भविष्य में अन्य लेखक इस इतिहास-ग्रन्थ में अपने हिस्से का इतिहास जोड़ते रहें—इसी भावना से लेखक ने ग्रन्थ को यकायक समाप्त किया था। लेखक की भावना के अनुरूप ही बाद के लेखकों ने अपने-अपने हिस्से का इतिहास इसमें जोड़ा और यह १९३५ तक के इतिहास-ग्रन्थ के रूप में आज उपलब्ध है। महावंस के मूल अंश के बाद लिखे गये भाग का नाम चूलवंस है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

महावंस की दीपवंस से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों में एक ही जैसी विषय-सामग्री है, एक ही जैसा वर्णन का क्रम है। महावंस दीपवंस के बाद की रचना है, किन्तु दोनों का ही आधार सिंहल की पुरानी अट्ठकथाएँ ही हैं। महावंस के लेखक के लिये पुरानी अट्ठकथाओं के अतिरिक्त दीपवंस भी उपलब्ध था। अतः उसने दीपवंस में खटकनेवाली बातों को दूर किया तथा महावंस को एक उत्तम काव्य का रूप दिया। फलस्वरूप दोनों ग्रन्थों में आधारभूत सामग्री एक होने पर भी उल्लेखनीय अन्तर आ गया है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन के शब्दों में "दोनों इतिहास-ग्रन्थों में जो मुख्य भेद है वह यह है कि जहाँ दीपवंस काव्य की दृष्टि से एकदम ध्यान न देने लायक लगता है, एकदम भर्ती की चीज प्रतीत होती है, कहीं-कहीं पद्य के बीच में गद्य भी विद्यमान है; वहाँ महावंस एक श्रेष्ठ महाकाव्य है।" आदिकाल से महासेन के शासनकाल तक का इतिहास प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थों में आज भी महावंस सर्वश्रेष्ठ है।

अनागतवंस

अनागतवंस भविष्य में उत्पन्न होनेवाले मेत्तेय्य बुद्ध के जीवनवृत्त के रूप में लिखा गया है। इसे बुद्धवंस का पूरक कह सकते हैं। कारण, उसमें अतीत के चौबीस

बुद्धों के जीवनवृत्त के अनन्तर पचीसवें बुद्ध के रूप में गौतमबुद्ध का जीवनवृत्त वर्णित है। अतीत एवं प्रत्युत्पन्न बुद्ध का जीवनवृत्त देने के बाद अनागत बुद्ध के जीवनवृत्त का वर्णन शेष रह गया था, जिसे अनागतवंस ने पूरा किया। दीघनिकाय के चक्कवत्तिसीहनादसुत्त में वर्णित मेत्तेय्य बुद्ध को अनागतवंस का मूल स्रोत कह सकते हैं।

इस ग्रन्थ में अनागत बुद्ध का इतिहास होने से इसे वंस-साहित्य के अन्य ग्रन्थों की भाँति इतिहास-ग्रन्थ कहना सम्भव नहीं है। यह तो परम्परा के अनुकूल कल्पना-प्रसूत एक साहित्यिक कृति ही कही जा सकती है।

इस ग्रन्थ के लेखक 'बुद्धघोस-युग' के अट्ठकथाकार स्थविर कस्सप थे। अनागत वंस पर एक अट्ठकथा भी लिखी गयी है जिसके लेखक ग्यारहवीं शताब्दी ई० के भिक्षु उपतिस्स थे।

महाबोधिवंस

महाबोधिवंस में अनुराधपुर में लगाये गये बोधिवृक्ष का इतिहास दिया गया है। ग्रन्थ की कथा पाँच प्रश्नों के समाधान के रूप में प्रस्तुत की गयी है। वे प्रश्न हैं—किस कारण से महाबोधि कही जाती है? उसका सम्बन्ध किससे है? उससे किस चीज की सिद्धि होती है? किसके द्वारा इसको स्तुति की गयी है? और इसे कहाँ प्रतिष्ठित किया गया है?

इन प्रश्नों के उत्तर देते समय पहले महावंस के कथानक को दुहराया गया है। तत्पश्चात् अनुराधपुर के बोधिवृक्ष का इतिहास प्रतिपादित है। ग्रन्थ की भाषा संस्कृतनिष्ठ है तथा अलंकारों का भरपूर प्रयोग किया गया है। भाषा एवं शैली पर बाणभट्टकृत संस्कृत ग्रन्थ कादम्बरी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। समस्त ग्रन्थ गद्य में है, किन्तु प्रत्येक कथा के अन्त में एवं ग्रन्थ के अन्त में गाथाएँ दी गयी हैं, जो उपसंहार की भूमिका निभाती हैं।

महाबोधिवंस के रचयिता का नाम उपतिस्स है। ये सिंहली भिक्षु थे। इनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ग्रन्थ (रोमन लिपि) के सम्पादक एस० ए० स्ट्रांग उपतिस्स को बुद्धघोस के समकालिक मानते हैं। किन्तु गायगर उपतिस्स का समय ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी मानते हैं। ग्रन्थ की भाषा एवं शैली को देखते हुए गायगर का ही मत समीचीन प्रतीत होता है।

थूपवंस

थूपवंस (स्तूप-वंश) में भगवान् बुद्ध की पवित्र धातुओं पर निर्मित स्तूपों का इतिहास वर्णित है। इसे मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

पहले भाग में पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है, दूसरे भाग में बुद्ध की परिनिर्वाण तक की जीवनी अंकित है और तीसरे भाग में स्तूपों का इतिहास है।

यह ग्रन्थ मौलिक कृति न होकर एक संकलन-ग्रन्थ है, कारण, इसमें निदान-कथा, समन्तपासादिका, महावंस और उसकी अट्ठकथा से सम्बद्ध अंशों का संकलन कर दिया गया है। फलतः इस ग्रन्थ में बुद्ध के परिनिर्वाण-काल से लंका के शासक दुट्ठगामणि के समय तक के स्तूपों का क्रमबद्ध इतिहास संकलित हो गया है।

इस ग्रन्थ की रचना सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर ने तेरहवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में की थी। इस ग्रन्थ का सिंहली रूपान्तर भी तेरहवीं शताब्दी में ही किया गया था।

यह ग्रन्थ लंका के धार्मिक इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, भारत एवं लंका के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों को भी प्रकाशित करता है।

दाठावंस

दाठावंस में एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ के रूप में भगवान् बुद्ध की दन्तधातु का इतिहास दिया गया है। यह दन्तधातु पहले कुसीनारा से मगध होती हुई कलिंग पहुँची और वहाँ से मेघवर्ण के शासनकाल में लंका पहुँची थी।

इस ग्रन्थ की रचना टीकाकार सारिपुत्त के सुयोग्य शिष्य धम्मकित्ति ने तेरहवीं शताब्दी ईसवी में की थी। इन्हीं धम्मकित्ति ने महावंस के ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा से ७९वें परिच्छेद तक के अंश की भी रचना की थी। इनका समय तेरहवीं शताब्दी ईसवी था।

यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें कुल ४०८ पद्य हैं। अन्त में ७ पद्यों में लेखक ने अपना परिचय दिया है। परिच्छेदों की दृष्टि से पहले परिच्छेद में बुद्ध का जीवन-चरित वर्णित है, दूसरे परिच्छेद में दन्तधातु का कलिंग तक पहुँचने का विवरण दिया गया है, तीसरे परिच्छेद में कलिंगराज गुहसीव द्वारा धातु-पूजन का वर्णन है, चौथे परिच्छेद में गुहसीव के दामाद दन्तकुमार एवं पुत्री हेममाला द्वारा दन्तधातु को लंका ले जाने का चित्र अंकित है और अन्तिम परिच्छेद में लंका में दन्तधातु का सत्कार-सम्मान का विवरण है। इस समय यह दन्तधातु कैंडी के दन्त-मन्दिर में सुरक्षित है।

इस ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त मधुर एवं सरस है। इसे संस्कृत-अनुगामी पालि भाषा कह सकते हैं। इसमें बड़े-बड़े समस्त पद पालि पर संस्कृत के वृद्धिङ्गत प्रभाव को व्यक्त करते हैं।

हत्थवनगल्लविहारवंस

हत्थवनगल्लविहारवंस का दूसरा नाम अत्तनगलुविहारवंस भी है। पराक्रमबाहु द्वितीय के शासनकाल (१२३६ ई०–१२७१ ई०) में पालि-साहित्य के चतुर्मुखी विकास के रूप में इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न हुई थी। यद्यपि इसके लेखक का नाम अज्ञात है तथापि इतना विदित होता है कि यह ग्रन्थ अनोमदस्सी की प्रेरणा से उन्हीं-के किसी शिष्य द्वारा लिखा गया था। इससे यह स्पष्ट है कि इसकी रचना तेरहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुई थी।

यह ग्रन्थ ग्यारह परिच्छेदों में विभक्त है। आरम्भ के आठ परिच्छेदों में संघबोधि का चरित वर्णित है और अन्तिम तीन परिच्छेदों में उन अनेक विहारों का वर्णन है, जो संघबोधि के निवास-स्थान पर निर्मित थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संघबोधि ने लोभी राजा गोठाभय को अपना सिर काटकर दे दिया था। अतः संघ-बोधि के निवास-स्थान को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा था।

इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी अत्यन्त प्राञ्जल एवं मधुर है। इसकी चम्पू-शैली अत्यन्त सरस एवं स्वाभाविक है। भाषा एवं शैली की दृष्टि से लेखक बाणभट्टकृत कादम्बरी एवं आर्यशूरकृत जातकमाला का ऋणी है।

बुद्धघोसुप्पत्ति

बुद्धघोसुप्पत्ति नामक ग्रन्थ के नाम के साथ वंस शब्द नहीं है फिर भी इतिहास-विषयक होने के कारण इसकी गणना वंस-साहित्य के अन्तर्गत की जाती है। यह ग्रन्थ बुद्धघोस की जीवनी के रूप में लिखा गया है। सिंहली भिक्षु महामंगल इसके रचयिता थे। इनका समय चौदहवीं शताब्दी ईसवी है। इस ग्रन्थ में बुद्धघोस के जन्म, बाल्यकाल, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्म-परिवर्तन, लंका-गमन, ग्रन्थ-लेखन, भारत-आगमन, देहावसान, बोधिवृक्ष के निकट स्तूप के निर्माण आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके वर्णन चमत्कारों एवं असंगत तथ्यों से परिपूर्ण हैं। अतः इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक ग्रन्थ का गौरव नहीं दिया जा सकता है। फिर भी अपने ढंग का यह पहला ग्रन्थ है और इसी कारण अन्य वंस-ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया गया है। इसकी भाषा भी अशुद्ध एवं अपरिपक्व है।

सद्धम्मसंगह

गद्य-पद्यमिश्रित चम्पू-शैली में प्रणीत सद्धम्मसंगह धम्मकित्ति महासामी की कृति है। धम्मकित्ति का समय चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

यह ग्रन्थ चालीस परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें प्रारम्भ से लेकर १३वीं शताब्दी ईसवी तक का भिक्षुसंघ का इतिहास वर्णित है। यह ग्रन्थ विनयपिटक, अट्ठकथा, महावंस आदि ग्रन्थों पर आधारित है। इसके नवें परिच्छेद में तेरहवीं

शताब्दी ईसवी तक के विभिन्न लेखकों एवं रचनाओं का विवरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्त में धर्म की स्तुति एवं उसके अध्ययन की कामना की गयी है।

छकेसधातुवंस

छकेसधातु भगवान् बुद्ध की पवित्र केसधातु पर लिखा गया एक इतिहास-ग्रन्थ है। इसकी रचना १९वीं शताब्दी ई० में किसी बरमी भिक्षु ने की थी जिसका नाम ज्ञात नहीं है। प्रारम्भ में बुद्ध-चरित का वर्णन है। तत्पश्चात् अपने उपासकों को उपासना हेतु भगवान् बुद्ध द्वारा छः केसधातु देने का उल्लेख है। बाद में इन छः केसों के ऊपर विभिन्न स्थानों पर बनवाये गये स्तूपों का वर्णन है। ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध है।

सासनवंस

सासनवंस में बुद्ध-शासन का इतिहास है। इसकी रचना बरमी भिक्षु पञ्ञासामी ने १८६१ ई० में की थी। इसमें बुद्ध-काल से लेकर १९वीं शताब्दी ई० तक के थेरवादी बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास चित्रित है।

दस परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रन्थ का छठा परिच्छेद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कारण, इसमें बरमा में बौद्ध धर्म के विकास का विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग पूर्ववर्ती वंस-ग्रन्थों पर आधारित है, किन्तु बाद में कुछ ऐसे तथ्य दिये गये हैं जो बरमा का महत्त्व बढ़ाने के उद्देश्य से बरमी किंवदन्तियों के आधार पर गढ़ लिये गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणस्वरूप मोग्गलिपुत्ततिस्स का धर्मोपदेश के लिए बरमा जाने का वर्णन बरमा के गौरव को बढ़ाने के लिए किया गया प्रतीत होता है। ग्रन्थ के अन्त में परिसिट्ठकथा के अन्तर्गत स्वेजि एवं सुधम्म—इन दो प्रमुख निकायों का वर्णन है। यह ग्रन्थ बरमा में बौद्धधर्म के विकास एवं बरमी राजाओं और भिक्षुसंघ के सम्बन्धों को जानने के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

गन्धवंस

गन्धवंस में पालि-साहित्य के ग्रन्थों का इतिहास है। यह १९वीं शताब्दी के किसी बरमी भिक्षु की कृति है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। पहले परिच्छेद में तीन पिटकों एवं नौ अंगों के रूप में बुद्ध-वचनों का विवरण है, दूसरे परिच्छेद में ग्रन्थों का विवरण है, बाद में लिखे गये ग्रन्थों के नाम के साथ उनके लेखकों का भी उल्लेख यथासम्भव किया गया है, तीसरे परिच्छेद में लेखकों के जन्म-स्थानों का विवरण दिया गया है, चौथे परिच्छेद में उन कारणों या प्रेरकों का उल्लेख है, जिनसे ग्रन्थ-रचना करने का उत्साह उत्पन्न हुआ तथा अन्तिम परिच्छेद में तिपिटक के निर्माण का विवरण है।

ग्रन्थकारों का उल्लेख कालानुक्रम से दिया गया प्रतीत होता है। पालि-

साहित्य का इतिहास लिखनेवाले सभी लेखकों ने कहीं-कहीं प्रमाणस्वरूप इस ग्रन्थ को उद्धृत किया है।

गन्धवंस पालि-साहित्य के प्रत्येक प्रेमी को पढ़ना आवश्यक है। इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं, किन्तु कुल मिलाकर इसे पढ़ने से पालि-साहित्य की विशेष जानकारी प्राप्त होती है।

चूलवंस

महावंस के परिवर्द्धित अंश को चूलवंस की संज्ञा दी गयी है। ये परिवर्द्धन समय-समय पर अनेक लेखकों द्वारा किये गये हैं, अतः चूलवंस को किसी लेखकविशेष या कालविशेष को रचना कहना सम्भव नहीं है। महावंस के परिवर्द्धनों का विवरण इस प्रकार है—

महावंस का प्रथम परिवर्द्धित अंश धम्मकित्ति भिक्षु ने लिखा। इन्होंने महावंस के सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा के आगे १९८ गाथाएँ जोड़कर उस परिच्छेद को समाप्त किया तथा उसके बाद ४२ परिच्छेद और लिखकर ग्रन्थ को ७९ परिच्छेद तक सम्पन्न किया। इस अंश में राजा महासेन के पुत्र मेघवण्ण से लेकर पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल तक का इतिहास है।

ग्रन्थ के द्वितीय परिवर्द्धित अंश के लेखक हैं भिक्षु बुद्धरक्खित। इन्होंने ८०वें परिच्छेद से ९०वें परिच्छेद तक की रचना की। इसमें पराक्रमबाहु द्वितीय के शासन-काल से लेकर पराक्रमबाहु चतुर्थ के शासन-काल तक का इतिहास है।

ग्रन्थ के तृतीय परिवर्द्धित अंश की रचना सुमंगल स्थविर ने की। इन्होंने १० परिच्छेदों को जोड़कर इसे १०० परिच्छेदों तक सम्पन्न किया। इस अंश में भुवनेकबाहु तृतीय के काल से कित्तिसिरिराजसीह की मृत्यु (१७५८ ई०) तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रन्थ का चतुर्थ परिवर्द्धित अंश सुमंगल एवं देवरक्खित ने किया। इन्होंने केवल १०१वाँ परिच्छेद लिखा और इसमें १७५८ ई० से लेकर १८१५ ई० तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रन्थ का अन्तिम परिवर्द्धित अंश १९३६ ई० में यगिरल पञ्ञानन्द नायक स्थविर ने किया और इस अंश में १८१५ ई० से १९३५ ई० तक का इतिहास अंकित किया गया है। यद्यपि यह अंश स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है, फिर भी इसे चूलवंस का पूरक अंश ही माना जाता है।

इस प्रकार चूलवंस में ३५२ ई० से लेकर १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास सुरक्षित किया गया है। इस ग्रन्थ के विभिन्न अंशों से विभिन्न काल की पालि भाषा का भी ज्ञान होता है।

जिनकालमाली

लंका और बरमा की भाँति थाई देश में भी जिनकालमाली, सिंहलबुद्धरूपनिदान, चामादेवीवंस आदि ऐसे पालि-ग्रन्थों की रचना हुई है, जो इतिहासविषयक होने के कारण वंस-साहित्य के वर्णन के प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में से अब तक जिनकालमाली प्रकाश में आया है। अतः यहाँ उसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिनकालमाली की रचना रतनपञ्ञनामक लेखक द्वारा १६वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में की गयी थी। इस ग्रन्थ के आरम्भिक भाग में दूरेनिदान, अविदूरेनिदान एवं सन्तिकेनिदान की कथाओं से लेकर तिपिटक के लिपिबद्ध होने तक का वर्णन है जो मुख्यतः निदानकथा एवं महावंस पर आधारित है। थाई देश का इतिहास हरिपुञ्जय नगर की स्थापना के वर्णन से प्रारम्भ होता है। इस ग्रन्थ से थाई देश एवं सिंहल (लंका) देश के बीच धार्मिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

जिनकालमाली में पूर्ववर्ती वंस-साहित्य के ग्रन्थों की प्रमुख परम्पराओं को ग्रहण कर एवं थाई देश का इतिहास प्रस्तुत कर लेखक इसे मौलिक कृति का रूप देने के प्रयास में सफल रहा है।

काव्य-साहित्य

पालि के काव्य-साहित्य के अन्तर्गत मुख्य रूप से उन ग्रन्थों का समावेश किया गया है जिनको पढ़ने या सुनने से लोगों में रसानुभूति का सञ्चार हो तथा जिनकी भाषा को गुणों एवं अलंकारों से सजाया-सँवारा गया हो। इसमें सन्देह नहीं है कि पालि भाषा में ऐसे काव्य-ग्रन्थों का साहित्य उतना समृद्ध नहीं है जितना संस्कृत का; किन्तु साथ में यह भी सच है कि पालि भाषा में ऐसे ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ है, जो काव्य की श्रेणी में आते हैं।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि थेरवादी (स्थविरवादी) परम्परा ने काव्य-ग्रन्थों का महत्त्व बढ़ानेवाले रसात्मक वाक्यों एवं आलंकारिक भाषा के प्रयोग को प्रश्रय न देकर हेय दृष्टि से ही देखा है। बरमा तथा थाई भूमि में भिक्षुओं के लिए कविता करना अनुचित समझा जाता रहा है। स्याम में भी काव्य-रचना बौद्ध भिक्षुओं के लिए उचित नहीं समझी गयी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि पालि में काव्य-प्रतिभा को प्रोत्साहन नहीं मिला। साथ ही पालि में लिखे गये काव्य-ग्रन्थों के प्रति समुचित सम्मान न देकर उन्हें उपेक्षाभरी दृष्टि से ही देखा गया।

ऐसी विषम परिस्थिति में लंका के राजा पराक्रमवाहु प्रथम (११५३ ई०–११८६ ई०) एवं पराक्रमवाहु द्वितीय (१२३६ ई०–१२७१ ई०) ने पालि-साहित्य के सर्वांगीण विकास को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि पराक्रमवाहु प्रथम के वाद लंका में राजनीतिक अस्थिरता एवं माघ की ध्वंस-लीला से पालि-साहित्य का सर्वतोमुखी विकास कुछ रुक-सा गया था, किन्तु पराक्रमवाहु द्वितीय ने पुनः उस साहित्य-सर्जन के कार्य को दुगुने उत्साह से आगे बढ़ाया। यही कारण है कि पालि में जो भी काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे इन दोनों राजाओं के शासनकाल में ही लिखे गये थे। पराक्रमवाहु द्वितीय ने तो भारतवर्ष से संस्कृतज्ञ भिक्षुओं को अपने देश लंका में ससम्मान आमन्त्रित कर उनसे साहित्य-सर्जन का कार्य सम्पन्न कराया था।

पालि काव्य-ग्रन्थों के रचयिता संस्कृतज्ञ थे, अतः उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना करते समय संस्कृत-ग्रन्थों को आधार बनाया था। परिणामस्वरूप भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से पालि के काव्य-ग्रन्थ संस्कृत काव्य-ग्रन्थों के ऋणी हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उनमें संस्कृत के वाक्यों को ही पालि रूप दे दिया गया हो। इस प्रकार संस्कृत के ग्रन्थों को मूल आधार बनाकर अपने काव्य-ग्रन्थों में रसानुभूति एवं भक्ति-भावना का समावेश करनेवाले इन कवियों की भाषा, भाव एवं शैली में न केवल कृत्रिमता की छाया पड़ी, अपितु सिद्धान्तों की दृष्टि से भी ये स्थविर-वादी परम्परा से कुछ अलग-थलग-से हो गये। फिर भी इन कवियों ने गुणों एवं अलंकारों से ओतप्रोत काव्य-ग्रन्थों को लिखकर पालि-साहित्य में एक खटकनेवाले अभाव की जो पूर्ति की है उसके लिये वे लेखक एवं उनके प्रेरक लंका के राजा पराक्रमबाहु (प्रथम एवं द्वितीय) निश्चित रूप से प्रशंसा के पात्र हैं।

यद्यपि महाबोधिवंस जैसे वंस-साहित्य के ग्रन्थ में सर्वप्रथम रसानुभूतिजनक वाक्यों एवं अलङ्कारों से परिपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है, किन्तु मूलतः वह वंस-साहित्य का ग्रन्थ होने से उसका वर्णन वंस-ग्रन्थों के अन्तर्गत किया जा चुका है। अतः बारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक जिन काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, वही यहाँ अभिधेय हैं। इनमें से कुछ पद्य में हैं तो कुछ गद्य में। उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

तेलकटाहगाथा

तेलकटाहगाथा का अर्थ है तेल की कड़ाह में कही गयी गाथाएँ। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणी स्थविर का राजमहिषी के साथ अनुचित सम्बन्ध के मिथ्या आरोप में बन्दी बनाकर कल्याणीतिस्स राजा ने उन्हें खौलती हुई तेल की कड़ाह में डालने के दण्ड की आज्ञा दी। जब निरपराध होने पर भी राजगुरु को दण्ड दिया गया तो

कड़ाह में डालने के साथ ही राजगुरु ने विपश्यना कर अर्हत्त्व पा लिया और उसी कड़ाह में तैरते हुए लङ्का के राजा कल्याणीतिस्स को आशीर्वाद एवं जनता को उपदेश देने के लिए ये गाथाएँ कही थीं। कहते हैं कि पुराने जन्मों में एक बार राजगुरु ग्वाला थे और उन्होंने एक मक्खी को बर्तन में बैठ जाने के कारण दूध में खौला दिया था। उसी कर्म के विपाकस्वरूप उन्हें खौलते तेल की कड़ाह में खौलना पड़ा।

शतक-साहित्य के ग्रन्थ के रूप में लिखे गये तेलकटाहगाथा में ९८ गाथाएँ हैं। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी सरल है तथा सभी गाथाएँ धर्म के रस से ओत-प्रोत हैं। इनमें रतनत्तय, मरणानुस्सति, अनिच्चलक्खण, दुक्खलक्खण, अनत्तलक्खण, असुभलक्खण, दुच्चरितआदीनवा, चतुरारक्खा एवं पटिच्चसमुप्पाद जैसे विषयों का मार्मिक विवेचन है।

इस ग्रन्थ के रचयिता एवं रचना के काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। कारण, कल्याणीतिस्स का समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी था, किन्तु भाषा एवं शैली को देखते हुए इस ग्रन्थ का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी ई० के पूर्व का नहीं माना जा सकता है।

जिनालंकार

यह टीकाकार सारिपुत्त के सुयोग्य शिष्य बुद्धरक्खित की अनुपम कृति है। इसमें २७० गाथाओं में वस्तुशोधन, त्रिविधबुद्धक्षेत्र, असाधारण ज्ञान, अभिनीहार, व्याकरण, बोधिसम्भार, गर्भोत्क्रान्ति, जन्ममङ्गल, सम्पत्ति, महापदान, मारविजय, अभिसम्बोधि, देशनाज्ञान, त्रिप्रातिहार्य, नवगुण, बुद्धपूजा एवं प्रार्थना के माध्यम से बुद्ध-कथा एवं बुद्धभक्ति का वर्णन किया गया है। अन्त में उपसंहार के रूप में आठ गाथाएँ हैं। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इन गाथाओं से लेखक के विषय में उपयोगी सूचना मिलती है। लेखक का जन्म बुद्ध-परिनिर्वाण के १७०० वर्ष बाद ११५६ ई० में लङ्का के रोहण जनपद में एक पवित्र वंश में हुआ था। इससे यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना बारहवीं शताब्दी ईसवी में हुई थी।

ग्रन्थ में अलङ्कारों का भरपूर प्रयोग किया गया है। शब्दालङ्कारों में यमक के विभिन्न प्रयोग कवि के पाण्डित्य को प्रदर्शित करते हैं। शिशुपालवध के समान एक पद्य में केवल न व्यञ्जन का ही प्रयोग किया गया है।

ग्रन्थ की इस प्रौढ़ भाषा एवं शैली के कारण कुछ विद्वानों ने इसे कृत्रिम शैली एवं अतिरंजनाओं से परिपूर्ण ग्रन्थ कहा है। किन्तु जिनालङ्कार के विषय में इस प्रकार का अभिमत उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि अलंकारों से परिपूर्ण काव्य में अति-रंजनापूर्ण वर्णन होता ही है।

बुद्धरक्खित ने अपने इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी थी। इसका कारण यह था कि प्रत्येक गाथा में निहित समस्त भावों को कवि व्यक्त करना चाहता था और यह कार्य टीका को लिखकर ही पूरा किया जा सकता था।

जिनचरित

जिनचरित सारिपुत्त के शिष्य वनरतन मेधंकर की रचना है। इसमें भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित वर्णित है। इसकी उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें भगवान् बुद्ध के ४५ वर्षावासों का विवरण है। लेखक ने स्वयं विजयबाहु नरेश द्वारा निर्मित परिवेण में रहकर इस ग्रन्थ को लिखने का उल्लेख किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी की रचना है।

विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती है। सारी कथा जातकनिदानकथा पर आधारित है। अधिकांश स्थलों पर वह जातकनिदान-कथा का छन्दोबद्ध रूप प्रतीत होता है। फिर भी जहाँ कहीं कवि को अवसर मिला, उसने अपने ग्रन्थ में काव्योचित सरस वर्णन किया है।

ग्रन्थ की भाषा एवं शैली को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि लेखक संस्कृत के विद्वान् थे, और वे संस्कृत-काव्यों से परिचित थे। फलतः जिनचरित के लेखन में कवि ने उसका पूर्ण उपयोग किया है।

पज्जमधु

बुद्धप्पिय द्वारा विरचित पज्जमधु भक्तिभावना से परिपूर्ण एक लघु काव्य-ग्रन्थ है। यह शतक-साहित्य का ग्रन्थ कहा जा सकता है। पज्जमधु का अर्थ है—पद्यरूपी मधु। चूंकि इसके पद्यों में मधु जैसा आनन्द या मिठास है, अतः इसका नाम पज्जमधु रखा गया है। इसमें कुल १०४ पद्य हैं। इनमें १०३ पद्य वसन्ततिलका छन्द में हैं, किन्तु अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।

कवि बुद्धप्पिय ने आनन्दवनरतन को अपना गुरु बताकर अपने विषय में जानने का आधार प्रदान किया है। आनन्दवनरतन मूलतः भारतीय थे, किन्तु बाद में लंका चले गये थे और वहाँ अरण्यवासी सम्प्रदाय के प्रमुख बन गये थे। इनके तीन प्रमुख शिष्य थे—गोतम थेर, चोलिय दीपङ्कर और वेदेह थेर। इनमें चोलिय दीपङ्कर का ही दूसरा नाम बुद्धप्पिय था। इन्होंने लंका में जाकर आनन्दवनरतन से शिक्षा ग्रहण की थी। कालान्तर में लंका में बुद्ध-शासन को दृढ़ करने के लिए पराक्रमबाहु (द्वितीय) के निमन्त्रण पर ये पुनः लंका गये थे।

बुद्धप्पिय और वेदेह थेर समकालीन थे। चूंकि वेदेह थेर की रचनायें तेरहवीं

शताब्दी ई० की हैं, अतः बुद्धप्पिय का समय भी तेरहवीं शताब्दी ई० मान्य है। पराक्रमबाहु (द्वितीय), जिनका समय १३वीं शताब्दी ई० था, के निमन्त्रण पर बुद्धप्पिय का लंका जाना भी उक्त मत की पुष्टि करता है।

पज्जमधु की भी भाषा पर संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थ के प्रत्येक पद्य में भगवान् बुद्ध से वरदान माँगा गया है जो ग्रन्थ के भक्तिपरक होने की ओर संकेत करता है। कवि बुद्ध-गुणों की स्तुति करता हुआ उपमा और रूपकों की वर्षा-सी कर देता है जो ग्रन्थ की अलंकारप्रधान शैली का द्योतक है।

उपासकजनालङ्कार

उपासकजनालङ्कार आनन्दवनरतन की रचना है। आनन्दवनरतन एक ख्याति-प्राप्त विद्वान् थे और इन्होंने बुद्धमित्त के अनुरोध पर बुद्धघोस की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठ-कथाओं पर मूल टीका नामक टीका-ग्रन्थ लिखा था। विजयबाहु नरेश के शासनकाल (१२३२ ई०–१२३६ ई०) में आयोजित बौद्ध परिषद् के ये अध्यक्ष थे। माघ के शासनकाल में ये पाण्ड्य देश के श्रीवल्लभपुर चले गये थे। पराक्रमबाहु (द्वितीय) के समय पुनः लंका पहुँचकर साहित्य-सर्जन में इन्होंने सहयोग दिया था।

उपासकजनालङ्कार नौ परिच्छेदों में विभक्त एक सुन्दर गद्य-पद्यमिश्रित शैली का ग्रन्थ है। विषय की दृष्टि से इसमें त्रिशरण, पञ्चशील, दसशील, धुताङ्ग, आजी-विका, दस पुण्यक्रियाएं, विघ्नकारक धर्म, लौकिक सम्पत्ति, लोकोत्तर सम्पत्ति आदि का विस्तृत वर्णन है। इसकी विषय-सामग्री तिपिटक एवं अट्ठकथाओं से ली गयी है।

सद्धम्मोपायन

सद्धम्मोपायन में सद्धम्म के उपाय का काव्यात्मक ढंग से विवेचन है। इसके लेखक आनन्द महाथेर थे। ग्रन्थ से यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ये आनन्द आनन्दवन-रतन से अभिन्न थे या दूसरे। फिर भी इस ग्रन्थ को बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का होना चाहिये।

ग्रन्थ के विषय को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—दुराचार के दुष्परिणाम और सदाचार के सुपरिणाम। इसमें १९ परिच्छेदों में विभक्त ६२१ गाथाएँ हैं। ग्रन्थ के अन्त में ८ गाथाओं में उपसंहार किया गया है। इसकी विषयवस्तु नवीन नहीं है, किन्तु उसे ओजपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने के कारण यह एक मौलिक कृति प्रतीत होती है।

पञ्चगतिदीपन

पञ्चगतिदीपन ११४ गाथाओं में निबद्ध पालि का एक लघु काव्य-ग्रन्थ है।

यह नरक, तिरच्छान, पेत, मनुस्स एवं देव—इन पाँच काण्डों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः पाँच गतियों के हेतु एवं उनमें प्राप्त होनेवाले दुःख या सुख का वर्णन है। दूसरे शब्दों में प्राणी को अपने मन, वचन एवं काय द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मों से कौनसी अच्छी या बुरी गति प्राप्त होती है तथा वहाँ उसे अपने पूर्वकृत कर्मों का किस प्रकार फल मिलता है—इसीका विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में है। यद्यपि विमानवत्थु एवं पेतवत्थु में अच्छे या बुरे कर्मों के अच्छे या बुरे फल का वर्णन है, किन्तु वही बात पञ्चगतिदीपन में सरल एवं सरस भाषा में कही गयी है। इसे पढ़ने से बुरे कर्मों से दूर रहकर अच्छे कर्मों को करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इसके लेखक एवं रचनाकाल के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

लोकप्पदीपसार

सासनवंस के अनुसार लोकप्पदीपसार बरमी भिक्षु मेधंकर की रचना है। इनका समय चौदहवीं शताब्दी ई० है। इन्होंने अपनी शिक्षा सिंहल में प्राप्त की थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में गद्य एवं पद्य—दोनों ही मिलते हैं। यह आठ परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः संस्कारलोक, निरयगति, तिरच्छानगति, मनुस्सगति, सत्तलोक एवं ओकासलोक में प्राणियों के विभिन्न रूपों का वर्णन है। वर्णन की पुष्टि के लिए विभिन्न कथानकों को दिया गया है। उदाहरणस्वरूप मनुस्सगति के विभिन्न रूपों का वर्णन करते समय महावंस की बहुत सी कथाओं को उद्धृत किया गया है।

विषय एवं शैली—दोनों ही दृष्टियों से लोकप्पदीपसार और पञ्चगतिदीपन में बहुत कुछ समानता है।

पारमी महासतक

पारमीमहासतक चौदहवीं शताब्दी ई० में भिक्षु धम्मकित्ति द्वारा रचित एक काव्य ग्रन्थ है। इसमें दस पारमिताओं का काव्यात्मक ढंग से निरूपण है।

बुद्धालंकार

बुद्धालंकार पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। इसकी रचना बरमी भिक्षु सीलवंस ने की थी। निदानकथा की सुमेधकथा को इस ग्रन्थ में काव्यात्मक रूप प्रदान किया गया है।

लोकनीति

पालि-साहित्य में लोकनीति एकमात्र नीतिशास्त्रविषयक रचना है। इसके रचयिता बरमा के प्रसिद्ध विद्वान् चतुरङ्गबल हैं। इनका समय १५वीं शताब्दी ईसवी है। इन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों से नीतिविषयक पद्यों को लेकर उनका पालि

भाषा में अनुवाद कर उन्हें इस ग्रन्थ में संकलित किया है। ग्रन्थ की प्रथम गाथा में उक्त तथ्य को कवि ने स्वयं प्रकट किया है—

लोकनीतिं पवक्खामि नानासत्थसमुद्धितं।
मागधेनेव संखेपं वन्दित्वा रतनत्तयं॥

अर्थात् तीनों रत्नों (बुद्ध, धर्म एवं संघ) को प्रणाम कर अनेक शास्त्रों से संकलित लोकनीतिनामक ग्रन्थ को संक्षेप में मागधी (पालि) भाषा में ही कह रहा हूँ।

यह ग्रन्थ सात काण्डों में विभक्त है—पण्डित, सुजन, दुज्जन, मित्त, इत्थि, राज एवं पकिण्णक। प्रत्येक काण्ड में सम्बद्ध विषय पर उत्तम नीतिविषयक गाथाओं का संचयन है। यह ग्रन्थ मौलिक न होते हुए भी पालि के विद्यार्थी के लिये अत्यधिक उपयोगी है।

कथा-साहित्य

पालि भाषा में कथाएँ विपुल मात्रा में उपलब्ध होतो हैं। जातकट्ठकथा की जातक-कथाएँ दुनियाभर में प्रसिद्ध हैं और अनेक भाषाओं में उनका अनुवाद किया गया है। अन्य अट्ठकथाओं में भी कथाओं की कमी नहीं है। त्रिपिटक-साहित्य में भी विभिन्न कथाएँ उपलब्ध होती हैं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में कथा-साहित्य के अन्तर्गत केवल उन्हीं ग्रन्थों का समावेश किया गया है जो मात्र कथा-लेखन को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। उनमें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—

रसवाहिनी

पालि के कथा-साहित्य में रसवाहिनी अधिक प्रसिद्ध है। इसमें १०३ कथाओं का संग्रह है, जिनमें से ४० भारतसम्बन्धी हैं, और ६३ का सम्बन्ध लंका से है। मौलिक रूप से इसकी रचना सिंहली भाषा में की गयी थी। इसका सबसे पहले पालि भाषा में रूपान्तर महाविहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) ने किया था। बाद में वेदेह थेर ने उसे शुद्ध कर नया रूप प्रदान किया। फलतः पालि-कथा-साहित्य यह वेदेह थेर की कृति के रूप में प्रसिद्ध है।

वेदेह थेर आनन्दवनरतन के शिष्य थे। इनका जन्म विप्रग्राम के ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाद में बौद्ध धर्म को ग्रहण कर प्रव्रजित हुए। इनका समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी है। इन्होंने समन्तकूटवण्णना नामक एक काव्य-ग्रन्थ भी लिखा है जिसमें भगवान् बुद्ध के चरण-चिह्न से अंकित समन्तकूट पर्वत का वर्णन है। इन चरण-चिह्नों की पूजा के लिये लाखों भक्त प्रतिवर्ष समन्तकूट पर्वत पर जाते हैं। इन चरण-चिह्नों

की विशेषता यह है कि विष्णु-भक्तों के लिये वे विष्णु के हैं, इसाईयों के लिये वे आदम के हैं। किन्तु वेदेह थेर की प्रसिद्धि रसवाहिनी के रचयिता के रूप में ही अधिक है।

रसवाहिनी की कथाओं में नैतिक उपदेश ही प्रधान रूप से निहित हैं। कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्य की कहानियाँ विश्व की सम्पत्ति कही जा सकती हैं। फिर भी इस ग्रन्थ की अधिकांश कथाएँ जातक एवं पालि अट्ठकथाओं पर आधारित हैं।

इस ग्रन्थ की कुछ कथाओं में भारतीय जीवन तथा कुछ में सिंहली जीवन चित्रित है। इससे भारत एवं लंका के मध्य विद्यमान धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता की अभिव्यक्ति होती है। यह विशेषता ग्रन्थ की प्रसिद्धि का प्रमुख कारण है। रसवाहिनी के ऊपर एक टीका-ग्रन्थ भी लिखा गया है, जो रसवाहिनीगण्ठि के नाम से प्रसिद्ध है।

सहस्सवत्थुप्पकरण

सहस्सवत्थुप्पकरण पालि कथा-साहित्य का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें एक हजार कहानियों का संकलन है। विषय की दृष्टि से इसका रसवाहिनी ग्रन्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसका बरमा में अधिक प्रचार था। बरमा से ही इसका लंका में प्रचार हुआ था। कुछ लोग मानते हैं कि मूलतः इसका लेखन लंका में ही हुआ था। इस ग्रन्थ पर भी सहस्सवत्थट्ठकथा नामक एक टीका-ग्रन्थ लिखा गया है जिसका उल्लेख महावंसत्थकथा में प्राप्त होता है।

राजाधिराजविलासिनो

राजाधिराजविलासिनी पालि कथा-साहित्य का तीसरा ग्रन्थ है। इसे बरमी राजा वोदोपय (बुद्धप्रिय) की प्रार्थना पर लिखा गया था। इसकी कथाएँ भी जातक, अट्ठकथा एवं वंस-साहित्य के ग्रन्थों पर आधारित हैं। कथाओं में विद्वत्तापूर्ण वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि लेखक को संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान था। इसका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी ईसवी है।

पालि भाषा में काव्य एवं कथा-साहित्य के ग्रन्थों की रचना २०वीं शताब्दी तक अनवरत रूप से होती आ रही है। लंका में पराक्रमबाहु छठें के शासनकाल (१४१५–१४६७ ई०) में गतारउपतपस्सी ने वुत्तमालासन्देससतक नामक उत्तम काव्य की रचना की। इसमें १०२ पद्य हैं। अठारहवीं शताब्दी ईसवी के संघराज सरणंकर विरचित अभिसम्बोधि-अलंकार, गिनेगथ विरचित तिरतनमाला उल्लेखनीय काव्य-ग्रन्थ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी धम्माराम (करतोट) धम्माराम (यात्रामुल्ले),

अत्यदस्सी (वेन्तर), सुमङ्गल (हिक्कडुव) तथा धम्माराम (रतनमलान) ने फुटकर पद्यों की रचना की। विमलसार तिस्स ने सासनवंसदीप नामक काव्य-ग्रन्थ का प्रणयन किया तथा रतनजोति (भातले) ने 'सुमङ्गलचरित' नामक संक्षिप्त रचना में विद्योदय परिवेण के संस्थापक की प्रशंसा प्रस्तुत की। मेधानन्द (मोरड्डवे) ने जिनवंसदीप नामक काव्य-ग्रन्थ का प्रणयन किया तो पियतिस्स ने पालि में महाकस्सपचरित, महानेक्खम्मचम्पू एवं कमलाञ्जलि नामक तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया। धम्माराम (यक्कडुव) ने धम्मारामसाधुचरित नामक लघु काव्य-ग्रन्थ लिखा। जिनवंसकृत भत्तिमालिनी एवं सुमङ्गल (गोवुस्स) कृत मुनिन्दापदान भी इसी समय के पालि काव्य-ग्रन्थ हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पालि भाषा में काव्य-ग्रन्थों का लेखन जिसे थेरवादी परम्परा अनुचित समझती थी लंका में आधुनिक काल तक अनवरत रूप से चल रहा है तथा इन काव्यों में थेरवाद की सीमाओं से थोड़ा हटकर महायानी विषयों को भी सहर्ष अपनाया जा रहा है।

नवाँ अध्याय

व्याकरण, कोश, छन्द : शास्त्र, अलंकार एवं अन्य साहित्य

व्याकरण-साहित्य

पालि का व्याकरण-साहित्य अधिक प्राचीन नहीं है। कच्चायन-व्याकरण, जो पालि का प्राचीनतम व्याकरण-ग्रन्थ है, का रचनाकाल सातवीं शताब्दी ईसवी के बाद का है। यही कारण है कि बुद्धघोस (पाँचवीं शताब्दी) ने अपनी अट्ठकथाओं में शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए संस्कृत व्याकरण का सहारा लिया था।

पालि के व्याकरण-ग्रन्थों की जब रचना प्रारम्भ हुई थी, उस समय न तो पालि भाषा अपने जीवित रूप में थी, और न ही वह बोलचाल की भाषा रह गयी थी। इसके अतिरिक्त उस समय ऐसी कोई परम्परा भी नहीं थी, जिसका सम्बन्ध उस काल से रहा हो, जब पालि जीवित या बोलचाल की भाषा थी। फलतः प्राकृत-वैयाकरणों की भाँति पालि-वैयाकरणों ने भी संस्कृत के व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थों को अपनी रचना का मूल आधार बनाया। अन्तर केवल इतना है कि प्राकृत-वैयाकरणों ने अपनी इस बात को स्पष्ट रूप से प्रारम्भ में ही कह दिया है, किन्तु पालि-वैयाकरणों ने इस तथ्य की ओर अस्पष्ट संकेत मात्र किया है। पालि के व्याकरण-ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट आभास हो जाता है कि वे संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थों पर आधारित हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के व्याकरण को पालि के साँचे में ढालने का प्रयास किया गया है।

पालि के जो भी व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ रचे गये हैं, उन सबके लेखक लंका या बरमा के थे और वे संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थों पर समुचित अधिकार रखते थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने ज्ञान का सदुपयोग करते हुए पालि में व्याकरण-ग्रन्थों के अभाव को दूर करें और यह कार्य उन भिक्षुओं ने पालि के व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर सम्पन्न किया।

पालि में जो भी व्याकरण-ग्रन्थ हैं उनमें से अधिकांश तीन शाखाओं में विभक्त हैं—(१) कच्चायन-व्याकरण और उसका उपजीवी व्याकरण-साहित्य, (२) मोग्गल्लान-व्याकरण एवं उसका उपजीवी व्याकरण-साहित्य, तथा (३) अग्गवंस-कृत सद्दनीति एवं उपजीवी व्याकरण-साहित्य। पालि के कुछ ऐसे भी व्याकरण-ग्रन्थ हैं, जो उपर्युक्त तीन शाखाओं में से किसी एक में समाविष्ट न होकर अपना शाखा-

विहीन स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए हैं। अतः इस अध्याय में पहले तीन शाखाओं में विभक्त व्याकरण-ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया जायगा। तत्पश्चात् अन्य पालि व्याकरण-ग्रन्थों का परिचय दिया जायगा।

१. कच्चायन-व्याकरण एवं उसका उपजीवी व्याकरण-साहित्य

पालि के व्याकरणों में कच्चायन-व्याकरण का प्रमुख स्थान है। सम्भवतः प्राचीनतम व्याकरण होने के कारण ही इसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसे कच्चायन-गन्ध अथवा सुसन्धिकप्प भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ के रचयिता कच्चायन स्थविर थे। चूंकि भगवान् बुद्ध के ८० शिष्यों में से एक महाकच्चायन थे, ईसा-पूर्व तृतीय शताब्दी में कात्यायन ने पाणिनि-व्याकरण पर वार्तिक भाग लिखा था, नेत्तिप्पकरण एवं पेटकोपदेस के रचयिता भी कच्चायन थे, अतः यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कच्चा-यन-व्याकरण के लेखक कच्चायन कौन थे। इस प्रश्न का समाधान कच्चायन-व्याकरण के रचना-काल पर निर्भर है। जैसा पहले बताया जा चुका है, कच्चायन-व्याकरण का रचनाकाल ईसा की सातवीं शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता है, अन्यथा बुद्ध-घोस, धम्मपाल आदि अट्ठकथाकारों ने इसका उपयोग अपनी अट्ठकथाओं में अवश्य किया होता। इससे वैयाकरण कच्चायन सातवीं शताब्दी ईसवी या उसके बाद के सिद्ध होते हैं। अतः ये बुद्ध के शिष्य महाकच्चायन, वार्तिककार कात्यायन, नेत्तिप्पकरण तथा पेटकोपदेस के लेखक कच्चायन से निश्चित रूप से भिन्न थे। इनके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। हाँ, इन्होंने लंका में कच्चायन-व्याकरण का प्रणयन किया था। ये महानिरुत्ति-गन्ध तथा चुल्लनिरुत्ति-गन्ध नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों के भी रचयिता माने जाते हैं।

कच्चायन-व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं जो ४ कप्पों एवं २३ परिच्छेदों में विभक्त हैं। कप्पों के नाम हैं—सन्धिकप्प, नामकप्प, आख्यातकप्प एवं किब्बिधान-कप्प। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सञ्ञाविधान सन्धिकप्प में निरूपित है, नामकप्प के अन्तर्गत कारककप्प, समासकप्प एवं तद्धितकप्प का भी निरूपण किया गया है; उणादिकप्प को किब्बिधानकप्प के अन्तर्गत रखा गया है। इस प्रकार चार कप्पों में अनेक कप्पों का समावेश कर इस ग्रन्थ में सभी व्याकरण-सम्बन्धी नियमों को निबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसके कुछ सूत्र पाणिनि-व्याकरण का पालि-रूपान्तर प्रतीत होते हैं। कुछ सूत्र कातन्त्र-व्याकरण के सूत्रों के समान हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि कच्चायन-व्याकरण की रचना पाणिनि एवं कातन्त्र के व्याकरणों के आधार पर की गयी है।

कच्चायन-व्याकरण को आधार बनाकर जिन ग्रन्थों की रचना की गयी है,

उन्हें इनका उपजीवी व्याकरण-साहित्य कहा गया है। उन ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. कच्चायनन्यास अथवा मुखमत्तदीपनी

यह कच्चायन-व्याकरण पर विमलबुद्धिविरचित न्यास है। न्यास उस विवेचना-पद्धति को कहते हैं, जिसमें मूल ग्रन्थ के सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है। इसमें कच्चायन-व्याकरण के सूत्रों की शास्त्रीय व्याख्या दी गयी है। यह कच्चायन-व्याकरण को समझने के लिए अत्यधिक उपयोगी है। इस न्यास को ही मुखमत्तदीपनी कहा जाता है। इस पर बारहवीं शताब्दी ई० में बरमी भिक्षु छपद ने न्यासपदीप नामक टीका लिखी है तथा सत्रहवीं शताब्दी के बरमी भिक्षु दाठानाग ने निरुत्तिसारमञ्जूसा नामक टीका-ग्रन्थ की रचना की है।

२. सुत्तनिद्देस

सुत्तनिद्देस कच्चायन-व्याकरण पर लिखा गया टीका-ग्रन्थ है। स्थविर छपद ने ११८१ ई० में इसकी रचना की थी।

३. सम्बन्धचिन्ता

सम्बन्धचिन्ता में कच्चायन-व्याकरण के आधार पर पालि-शब्दयोजना एवं पालि-पदयोजना का विवेचन किया गया है। इसके लेखक संघरक्खित हैं। ये संघरक्खित टीकाकार सारिपुत्त के शिष्य थे। अतः सम्बन्धचिन्ता का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। सम्बन्धचिन्ता एवं सुत्तनिद्देस लगभग एक ही काल में रचित हैं। सम्बन्धचिन्ता में गद्य एवं पद्य दोनों ही हैं, किन्तु पद्यभाग की अपेक्षा गद्यभाग अधिक है। इस पर एक टीका-ग्रन्थ भी लिखा गया है, किन्तु उसके लेखक एवं लेखनकाल की निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

४. सद्दत्थभेदचिन्ता

सद्दत्थभेदचिन्ता कारिकाओं में निबद्ध एक व्याख्या-ग्रन्थ है, जिसमें शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ का विवेचन किया गया है। यह बरमा के स्थविर सद्धम्मसिरि की कृति है तथा इसका रचनाकाल बारहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध है। सद्दत्थभेदचिन्ता पर भी एक टीका लिखी गयी है, किन्तु उसके लेखक एवं लेखनकाल की जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

५. रूपसिद्धि अथवा पदरूपसिद्धि

रूपसिद्धि (जिसे पदरूपसिद्धि भी कहते हैं) में कच्चायन-व्याकरण के सूत्रों को प्रक्रिया के अनुसार दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता बुद्ध-

प्पिय दीपङ्कर थे जिनका विस्तृत परिचय विगत अध्याय में पज्जमधु का विवरण देते समय दिया जा चुका है। बुद्धप्पिय की रचना होने के कारण रूपसिद्धि का रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध है। सात काण्डों में विभक्त रूपसिद्धि की विषय-वस्तु की उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कितक एवं उणादि को एक साथ सातवें परिच्छेद में रखा गया है। इसकी भाषा एवं शैली पाण्डित्य एवं गम्भीरता से परिपूर्ण है। फलतः इसमें व्याकरणशास्त्र की व्याख्या में प्रौढ़ता का आभास होता है। इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी गयी है जिसके लेखक स्वयं बुद्धप्पिय बताये जाते हैं। बाद में इस टीका का सिंहली रूपान्तर भी किया गया है।

६. बालावतार

बालावतार कच्चायन-व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। यह पालि व्याकरण के प्रारम्भिक छात्रों के लिए उपयोगी ग्रन्थ है। अतः यह बरमा एवं स्याम में अत्यन्त लोकप्रिय है। पाणिनीय परम्परा में जो स्थान लघुसिद्धान्तकौमुदी का है, ठीक वही स्थान कच्चायन-परम्परा में बालावतार का है। यह सद्धम्मसंगह के लेखक धम्मकित्ति की कृति है। इसका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध है। इस पर बालावतार-टीका नामक एक टीका-ग्रन्थ भी रचा गया है, किन्तु उस टीका-ग्रन्थ के लेखक के विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

७. सद्दसारत्थजालिनी

सद्दसारत्थजालिनी बरमा के भिक्षु कण्टकखिपनागित अथवा नागित की कृति है। इसका रचना-काल १३५६ ई० है। इसकी विषयवस्तु का विन्यास कच्चायन-व्याकरण जैसा ही है। ५१६ कारिकाओं में निबद्ध इस ग्रन्थ में व्याकरण के महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन है। इस पर सारमञ्जूसा नामक एक टीका-ग्रन्थ भी लिखा गया है।

८-९. कच्चायनभेद तथा कच्चायनसार

स्थविर महायस द्वारा चौदहवीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में विरचित कच्चायनभेद तथा कच्चायनसार—ये दोनों ग्रन्थ कच्चायन-व्याकरण के टीका-ग्रन्थ हैं। इनका समय चौदहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध है। कच्चायनभेद पर सारत्थविकासिनी तथा कच्चायनभेदमहाटीका—नामक दो टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें से सारत्थ-विकासिनी की रचना बरमी भिक्षु अरियालंकार ने १६०८ ई० में की थी। इसी प्रकार कच्चायनभेदमहाटीका की रचना स्थविर उत्तमसिक्ख ने की थी, किन्तु इसके रचना-काल के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

कच्चायनसार ७२ कारिकाओं में निबद्ध एक महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थ है। इसमें सामान्य, आख्यात, कृत, कारक आदि का विवेचन है। इसमें बालावतार, रूपसिद्धि, चूलनिरुत्ति, सम्बन्धचिन्ता आदि ग्रन्थों के उद्धरण भी उपलब्ध होते हैं। कच्चायनसार पर दो टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। इनमें से पहली टीका तो स्वयं महायस ने लिखी है और यह कच्चायनसारपुराणटीका के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर दूसरी टीका बरमा के भिक्षु सद्धम्मविलास ने लिखी है जिसे कच्चायनसार अभिनवटीका कहते हैं। इस अभिनवटीका का ही दूसरा नाम सम्मोहविनासिनी है।

१०. सद्दबिन्दु

सद्दबिन्दु कच्चायन-व्याकरण के आधार पर २१ कारिकाओं में निबद्ध एक लघु ग्रन्थ है। बरमा के राजा क्यच्चा ने इसे १४८१ ई० में रचा था। सद्दबिन्दु पर लीनत्थसूदनी नामक एक टीका-ग्रन्थ का भी प्रणयन हुआ है जिसके रचयिता भिक्षु ञाणविलास हैं और जिसका रचनाकाल सोलहवीं शताब्दी ईसवी है।

११. बालप्पबोधन

बालप्पबोधन नामक पालि-व्याकरण का यह ग्रन्थ कच्चायन-परम्परा का अनुसरण करते हुए लिखा गया है। इसका रचनाकाल १६वीं शताब्दी ईसवी का मध्य-भाग माना जाता है। इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है।

१२. अभिनवचुल्लनिरुत्ति

अभिनवचुल्लनिरुत्ति में कच्चायन-व्याकरण में निरूपित नियमों के अपवादों का विवरण है। इसके रचयिता एवं रचना-काल के विषय में कोई निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है।

१३–१४. कच्चायनवण्णना एवं वाचकोपदेस

कच्चायनवण्णना एवं वाचकोपदेस—ये दोनों ही ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में विद्यमान बरमा के थेर महाविजितावी की रचनाएँ हैं। कच्चायनवण्णना में कच्चायन-व्याकरण के सन्धिकप्प का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में न्यास, रूपसिद्धि, सद्दनीति आदि ग्रन्थों के मतों को प्रस्तुत कर उन पर विचार किया गया है। कच्चायनवण्णना नामक एक प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ भी है, जिसका उल्लेख रूपसिद्धि में किया गया है। प्रस्तुत कच्चायनवण्णना उस प्राचीन ग्रन्थ से निश्चित रूप से भिन्न है।

वाचकोपदेस नामक व्याकरण-ग्रन्थ में व्याकरण शास्त्र का नैयायिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। इसमें वाचक को दस प्रकार का मानकर उनका व्याख्यान होने के कारण इसे वाचकोपदेस कहा जाता है।

१५. धातुमंजूसा

कच्चायन-व्याकरण में उल्लिखित धातुओं का पद्यबद्ध ढंग से इस ग्रन्थ में संग्रह किया गया है। इस पर वोपदेव के कविकल्पद्रुम एवं पाणिनीय धातुपाठ का प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। इसके लेखक का नाम सीलवंस है। कच्चायन-परम्परा का होने के कारण इस ग्रन्थ को कच्चायनधातुमंजूसा भी कहते हैं।

२. मोग्गल्लान-व्याकरण एवं उसका उपजीवी व्याकरण-साहित्य

कच्चायन-परम्परा के बाद पालि-व्याकरण की दूसरी परम्परा या शाखा मोग्गल्लान-व्याकरण एवं उसके उपजीवी व्याकरण-ग्रन्थों की है। इस शाखा के प्रवर्तक महाथेर मोग्गल्लान थे। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति के अन्त में व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है। उससे हमें मोग्गल्लान के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। मोग्गल्लान महाथेर पराक्रमबाहु प्रथम के शासनकाल में अनुराधपुर के थूपाराम नामक विहार में रहते थे। इन्होंने बारहवीं शताब्दी ईसवी में पालि-व्याकरण की रचना की थी, जो उनके नाम पर मोग्गल्लान-व्याकरण के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसमें ८१७ सूत्र हैं, जिनमें सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, ण्वादिपाठ आदि व्याकरण-सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है। कच्चायन-व्याकरण पालि का प्रारम्भिक व्याकरण होने के कारण उसमें व्याकरण के कितने ही नियम छूट गये थे। इधर संस्कृत-व्याकरण का और उसमें भी चान्द्र-व्याकरण का पर्याप्त प्रचार हो गया था। फलतः मोग्गल्लान ने कच्चायन-व्याकरण की कमियों को दूर करते हुए चान्द्र-व्याकरण के ढांचे में अपने व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। मोग्गल्लान-व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मोग्गलान ने सर्वप्रथम सूत्र लिखकर उन पर स्वयं वृत्ति भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर पञ्चिका नामक व्याख्या प्रस्तुत की। इसके लिए मोग्गल्लान ने पाणिनि तथा कातन्त्र के अतिरिक्त चन्द्रगोमिन् का भी पर्याप्त सदुपयोग किया है। इसके फलस्वरूप मोग्गल्लान-व्याकरण में पूर्णता एवं गम्भीरता का समावेश हुआ और उसके कारण वह ग्रन्थ लंका तथा बरमा दोनों ही देशों में श्रेष्ठ व्याकरण-ग्रन्थ के रूप में अपनाया गया है।

मोग्गल्लान-व्याकरण के आधार पर जो उसके उपजीवी व्याकरण-साहित्य का निर्माण हुआ उसके प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. पदसाधन

पदसाधन के रचयिता पियदस्सी थे। पियदस्सी मोग्गल्लान के साक्षात् शिष्य थे। अतः इनका समय १२वीं शताब्दी ईसवी का अन्तिम भाग निश्चित किया गया है। पदसाधन मोग्गल्लान-व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। पदसाधन का मोग्गल्लान-

व्याकरण से ठीक वही सम्बन्ध है जो बालावतार का कच्चायन-व्याकरण से है अथवा लघुसिद्धान्तकौमुदी का पाणिनीय अष्टाध्यायी से है। पदसाधन पर पदसाधनटीका अथवा बुद्धिपसादनी नाम की टीका लिखी गयी है। इसके रचयिता तित्थगामवासी राहुल वाचिस्सर हैं और इसका रचना-काल १४७२ ई० है।

२. पयोगसिद्धि

पयोगसिद्धि वनरतनमेधंकर की रचना है। ये जिनचरित तथा लोकप्पदीप-सार के लेखकों से भिन्न कहे जाते हैं। वनरतनमेधंकर पराक्रमबाहु द्वितीय के पुत्र भुवनेकबाहु के समकालिक हैं। अतः इनका समय १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग था। इस प्रकार पयोगसिद्धि १३वीं शताब्दी की रचना सिद्ध होती है। पयोगसिद्धि मोग्गल्लान-सम्प्रदाय का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण-ग्रन्थ है। इसका मोग्गल्लान-व्याकरण से वही सम्बन्ध है, जो रूपसिद्धि का कच्चायन व्याकरण के साथ।

३. मोग्गल्लानपञ्चिकापदीप

मोग्गल्लानपञ्चिकापदीप के रचयिता राहुलवाचिस्सर थे। पदसाधनटीका के प्रसङ्ग में इनके विषय में कहा जा चुका है। यद्यपि गन्धवंस के वर्णनानुसार मोग्ग-ल्लान-व्याकरण पर वाचिस्सर द्वारा एक टीका-ग्रन्थ लिखे जाने का उल्लेख है, किन्तु वहाँ वाचिस्सर को टीकाकार सारिपुत्त का शिष्य न मानकर राहुलवाचिस्सर मानना ही उपयुक्त है। मोग्गल्लानपञ्चिकापदीप एक गम्भीर एवं पाण्डित्य से भरपूर रचना है। राहुलवाचिस्सर का छः भाषाओं पर अधिकार था, जिसके कारण इन्हें षड्भाषा-परमेश्वर कहा जाता था। इस टीका-ग्रन्थ में भी राहुलवाचिस्सर ने अनेक पालि एवं संस्कृत-व्याकरणों के उदाहरण दिये हैं। इस टीका का रचनाकाल १४५७ ई० बताया गया है।

४. धातुपाठ

धातुपाठ में मोग्गल्लान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची दी गयी है। कच्चायन-व्याकरण की धातुमञ्जूसा की अपेक्षा यह ग्रन्थ संक्षिप्त है तथा गद्य में है। कालक्रम की दृष्टि से धातुपाठ धातुमञ्जूसा से प्राचीन प्रतीत होता है। कारण, धातु-मञ्जूसा की रचना धातुपाठ पर आधारित है। इसके रचयिता एवं रचना-काल के विषय में कोई निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

३. अग्गवंसकृत सद्दनीति एवं उसका उपजीवी व्याकरण-साहित्य

पालि की तीसरी प्रधान व्याकरण-शाखा का सद्दनीति एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके लेखक अग्गवंस थे। बरमा में लंका पर आश्रित न होकर व्याकरण के अध्ययन

का क्रम प्रचलित था। अग्गवंस ने बरमा में व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान अर्जित कर इस ग्रन्थ की रचना की थी।

सामान्यत: ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—पदमाला, धातुमाला एवं सूत्रमाला। पदमाला में पदों का, धातुमाला में धातुओं की सूची एवं धातुओं से बननेवाले शब्दों का तथा सूत्रमाला में सूत्रों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में १३९१ सूत्र हैं। विशेष रूप से यह ग्रन्थ २७ परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें पहले १८ परिच्छेद महासद्दनीति और शेष ९ परिच्छेद चूलसद्दनीति कहलाते हैं।

सद्दनीति अपनी पूर्णता एवं गम्भीरता में इतना विख्यात हुआ कि उसके परीक्षण को लंका से उत्तराजीव के नेतृत्व में कुछ भिक्षु बरमा गये। जब उन्हें सद्द-नीति दिखाया गया तो उन्होंने उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया।

सद्दनीति ११५४ ई० की रचना है। इसके लेखक अग्गवंस को अग्गपण्डित (तृतीय) भी कहा जाता था। ये अग्गपण्डित (प्रथम) के शिष्य अग्गपण्डित (द्वितीय) के भतीजे थे। अग्गवंस बरमा के राजा नरपतिसिथु (११६७–१२०२ ई०) के गुरु थे।

सद्दनीति कच्चायन-व्याकरण पर आधारित है। विषय-सूची की दृष्टि से सद्द-नीति को कच्चायन-शाखा से अलग नहीं रखा जा सकता है, किन्तु सद्दनीति में संस्कृत-व्याकरण को विशेष रूप से अपनाया गया है। फलत: भाषा एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से इसमें पूर्णता एवं एक स्वतन्त्र शाखा का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता आ गयी है। अग्गवंस को मोग्गल्लान-व्याकरण के विषय में किसी प्रकार की जानकारी नहीं थी, क्योंकि वह सद्दनीति के बाद की रचना थी।

धात्वत्थदीपनी

सद्दनीति के आधार पर व्याकरण-साहित्य की रचना नहीं हुई है। अत: इसका उपजीवी व्याकरण-साहित्य उल्लेखनीय नहीं है। हाँ, जिस प्रकार कच्चायन-व्याकरण की धातुसूची को धातुमञ्जूसा में तथा मोग्गल्लान-व्याकरण की धातुसूची को धातुपाठ में संकलित किया गया है, उसी प्रकार सद्दनीति की धातुओं को धात्वत्थदीपनी में संकलित किया गया है। यह हिंगुलवल जिनरतन की रचना है, किन्तु रचना-काल के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

इसमें भी धातुमञ्जूसा एवं धातुपाठ की भाँति पाणिनीय धातुपाठ से पर्याप्त सहायता ली गयी है।

पालि-व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

पालि के उपर्युक्त तीन शाखाओं से सम्बद्ध पालि-व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं, जो व्याकरण की किसी शाखा के न होते हुए भी पालि-व्याकरण के शास्त्रीय अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों की विस्तृत सूची सुभूतिकृत नाममाला अथवा डे जायसा के केटलाग में उपलब्ध है। उनमें से कुछ ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

१. वच्चवाचक

वच्चवाचक बरमी भिक्षु सामणेर धम्मदस्सी की रचना है। इसका रचना-काल चौदहवीं शताब्दी है। इस पर बरमी भिक्षु सद्धम्मनन्दी ने १७६८ ई० में टीका लिखी है।

२. गन्धट्ठि

यह भिक्षु मंगल की रचना है। इसका रचनाकाल भी चौदहवीं शताब्दी ईसवी है। इसमें उपसर्गों का विवेचन किया गया है।

३. गन्धाभरण

गन्धाभरण भिक्षु अरियवंस की कृति है। इसका रचनाकाल १४३६ ई० है। इसमें भी उपसर्गों का विवेचन है।

४. विभत्त्यत्थप्पकरण

इसकी रचना बरमी राजा क्यच्वा की पुत्री ने की थी। इसमें विभक्तियों के प्रयोगों का विवेचन है। इसका रचनाकाल १४८१ ई० है।

इस प्रकार पालि में व्याकरण-साहित्य को भी समृद्ध बनाने का पूरा प्रयास किया गया है। थेरवादियों के लिए काव्य-रचना हेय समझी जाने से भी भिक्षुओं की शक्ति अभिधम्म एवं व्याकरणपरक साहित्य के सर्जन में लगी तथा पालि-व्याकरण-साहित्य को संस्कृत-व्याकरण-साहित्य की ही भाँति व्यापक बनाने का प्रयास किया जाता रहा है।

कोश-साहित्य

पालि-साहित्य में तीन कोश-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम हैं—अभिधानप्पदीपिका एकक्खरकोस तथा सद्दत्थरतनावली। इनमें से प्रथम दो संस्कृत-कोश-ग्रन्थों पर आधारित हैं, जब कि तीसरा आधुनिक विद्वानों के अनुरोध पर बीसवीं शताब्दी ईसवी की रचना है।

अभिधानप्पदीपिका

अभिधानप्पदीपिका नामक कोश-ग्रन्थ की रचना पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-

काल (११५३–११८६ ई०) में की गयी थी। इसके रचयिता मोग्गल्लान थेर थे। ये वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न थे। कारण, कोशकार मोग्गल्लान ने अपने कोश-ग्रन्थ की रचना पोलन्नरुव के जेतवन विहार में रहकर की थी जब कि वैयाकरण मोग्गल्लान ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ की रचना अनुराधपुर नगर के थूपाराम विहार में रहकर सम्पन्न की थी। अतः नाम एवं समय में साम्य होते हुए भी कोशकार मोग्गल्लान वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न थे। गन्धवंस में कोशकार मोग्गल्लान को नव मोग्गल्लान कहा गया है।

अभिधानप्पदीपिका तीन काण्डों में विभक्त है—सग्गकंड, भूकंड एवं सामञ्ञ-कंड। सग्गकंड में देवलोक से सम्बद्ध पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। इस प्रसंग में गौतम बुद्ध, निर्वाण, अर्हत् आदि से सम्बद्ध पर्यायवाची शब्दों का विवरण दिया गया है। भूकंड में पृथ्वी से सम्बद्ध शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है तथा सामञ्ञकंड में अन्य शब्दों के पर्यायवादी शब्दों का संकलन है, जो प्रथम दो कंडों में संकलित नहीं किये जा सकते थे।

अभिधानप्पदीपिका का कंडों एवं वग्गों में विभाजन संस्कृत के कोश-ग्रन्थ अमर-कोश पर आधारित होने का प्रबल प्रमाण है। अभिधानप्पदीपिका के कुछ श्लोक तो अमरकोश के श्लोकों का पालि-रूपान्तर मात्र है।

इस प्रकार अमरकोश पर पूर्णतः आधारित होते हुए भी अभिधानप्पदीपिका का पालि के विद्यार्थी के लिए विशेष महत्त्व है। अभिधानप्पदीपिका जिस व्यक्ति को कण्ठस्थ होगी, वह पालि भाषा का प्रयोग सहज रूप से कर सकेगा। चौदहवीं शताब्दी ई० में अभिधानप्पदीपिका पर एक टीका-ग्रन्थ भी लिखा गया है।

एकक्खरकोस

एकक्खरकोस की रचना १४६५ ई० में बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति द्वारा की गयी थी। संस्कृत में कोश-ग्रन्थों की रचना होते-होते एकाक्षरकोशों की रचना की परम्परा भी चल पड़ी थी। समय-समय पर संस्कृत में अनेक एकाक्षरकोशों की रचना की गयी है। भिक्षु सद्धम्मकित्ति ने इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए पालि में एकक्खरकोस की रचना की थी।

इसमें १२३ गाथाएँ हैं और उनमें सभी ४१ वर्णों का अर्थ दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी बतलाया गया है कि कौन-कौन से वर्ण किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ग्रन्थ के अन्त में 'सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचितं एकक्खरकोसं नाम सद्दप्पकरणं परिसमत्तं'—यह वाक्य आया है जिससे स्पष्ट होता है कि एकक्खरकोस

के रचयिता ने संस्कृत के एकाक्षरकोश का पालि में परिवर्तन मात्र किया है, किन्तु यह परिवर्तन एक बौद्ध भिक्षु द्वारा बौद्ध-शासन में तन्मय होकर किया गया है, अतः शैली की दृष्टि से संस्कृत के एकाक्षरकोश पर आधारित होते हुए भी एकक्खरकोस में कुछ नवीनता का अनुभव होता है।

सद्दत्थरतनावली

पालि के कोश-ग्रन्थों का विवरण देते समय विद्वानों ने केवल अभिधानप्पदीपिका एवं एकक्खरकोस का ही विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु भिक्षु धर्मरक्षित ने अपने 'पालि-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम सद्दत्थरतनावली का विवरण दिया है। यह कोश-ग्रन्थ चार भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका मुद्रण-काल १९२७ से १९३२ ई० तक है। इसमें अकार से लेकर लकार तक के शब्दों की व्याख्या है। इससे स्पष्ट है कि यह कोश-ग्रन्थ अभी अपूर्ण अवस्था में ही उपलब्ध है। इसके शेष भाग का लेखन हुआ है या नहीं—इस विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

इस कोश-ग्रन्थ के लेखकों में चार भिक्षुओं के नामों का उल्लेख मिलता है। उनके नाम हैं—सोमाभिसिरि, सूरिय, राजिन्द एवं ञान। इन लेखकों ने युरोपीय विद्वानों के अनुरोध पर इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ देकर उसके सम्बन्ध में तिपिटक से उद्धरण भी दिये गये हैं। आधुनिक युग में विरचित यह कोश-ग्रन्थ पूर्ण रूप से प्रकाशित होने पर सर्वाधिक उपयोगी कोश-ग्रन्थ सिद्ध होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

छन्द-अलंकारशास्त्र

पालि-साहित्य में छन्दःशास्त्र पर वुत्तोदय एवं अलंकारशास्त्र पर सुबोधालंकार नामक ग्रन्थों की रचना की गयी है। थेरवादी परम्परा में भिक्षुओं के लिए कविता करना अनुचित समझा जाता रहा है, अतः छन्दःशास्त्र एवं अलंकारशास्त्र पर ग्रन्थों के प्रणयन का प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर भी पराक्रमबाहु प्रथम के शासनकाल में पालि-साहित्य को समृद्ध एवं सर्वाङ्गीण बनाने के लिए ही वुत्तोदय एवं सुबोधालंकार जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया गया प्रतीत होता है। यहाँ इन ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

वुत्तोदय

पालि भाषा में छन्दःशास्त्र के रूप में लिखा गया एकमात्र ग्रन्थ वुत्तोदय है। यह प्रसिद्ध टीकाकार सारिपुत्त के सुयोग्य शिष्य संघरक्खित द्वारा विरचित है। वुत्तोदय का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी ईसवी का अन्तिम भाग है।

वुत्तोदय संस्कृत के छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थ वृत्तरत्नाकर पर पूर्णतः आधारित है। अनेक स्थलों पर वुत्तोदय वृत्तरत्नाकर की पालि-छाया मात्र प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ छः परिच्छेदों में विभक्त है। ये परिच्छेद हैं—१. सञ्ञापरिभासा, २. मत्ताछन्द, ३. समवुत्तवण्णछन्द, ४. अद्धसमवुत्तवण्णछन्द, ५. विसमवुत्तवण्णछन्द तथा ६. छप्पच्चय-विभाग। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक अपने उद्देश्य को बतलाते हुए कहता है कि पिङ्गलादि आचार्यों ने पहले जिस छन्दःशास्त्र की रचना की है, उससे मागधी अर्थात् पालि मात्र जाननेवाले विद्यार्थियों का अभिप्राय पूरा नहीं होता है। अतः पालि के छात्रों को सरलता से छन्दःशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये ही इसकी रचना की गयी है।

वुत्तोदय पर पाँच टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। वे हैं—१. वुत्तोदयविवरण, २. वुत्तोदयटीका, ३. वचनत्थजोतिकाटीका, ४. छप्पच्चयदीपिका तथा ५. सुदुद्दस-विकासिनी। इनमें से पहले दो लंका में तथा अन्तिम तीन वरमा में लिखे गये हैं। इनमें वचनत्थजोतिका टीका प्रसिद्ध है।

सुबोधालंकार

सुबोधालंकार पालि भाषा में रचित अलंकारशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है। इसके रचयिता संघरक्खित हैं एवं इसका रचनाकाल बारहवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध है।

वुत्तोदय की तरह सुबोधालंकार की रचना का प्रयोजन पालि भाषा के ज्ञाता को अलङ्कारशास्त्र का परिचय देना है। अतः संस्कृत के काव्यादर्श के आधार पर सुबोधालंकार की रचना की गयी है। यह भी अनेक स्थलों पर काव्यादर्श का पालि-रूपान्तर प्रतीत होता है।

वुत्तोदय एवं सुबोधालंकार का प्रणयन कर संघरक्खित ने पालि भाषा में छन्दःशास्त्र एवं अलंकारशास्त्र के अभाव को समाप्त कर पालि-साहित्य को सर्वाङ्गीण बनाने में योगदान दिया है।

अभिलेख-साहित्य

भारत तथा बरमा में जो अभिलेख-साहित्य उपलब्ध है, उसका पालि-साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कारण, उस अभिलेख-साहित्य की सहायता से पालि भाषा के स्वरूप एवं उसके साहित्य के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेख-साहित्य के साक्ष्य पर पालि-तिपिटक की प्राचीनता से लेकर पालि-साहित्य की विभिन्न कृतियों की निश्चित सूचना मिलती है। अतः पालि-साहित्य के इतिहास के प्रसंग में

अभिलेख-साहित्य का संक्षिप्त विवरण देना तथा उसके आधार पर प्राप्त निष्कर्षों का उल्लेख करना आवश्यक है।

इस अभिलेख-साहित्य की काल-सीमा ई० पू० तीसरी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी है। इसमें प्रमुख रूप से अशोक के शिलालेख, साँची और भारहुत के अभिलेख, सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र लेख, बोबोगी पैगोडा (बरमा) के खण्डित शिलालेख, प्रोम के स्वर्णपत्र लेख, पेगन के १४४२ ईसवी के अभिलेख तथा कल्याणी अभिलेख का समावेश किया जाता है।

अशोक के शिलालेखों में उपदिष्ट धर्म को केवल बौद्धधर्म का कहना उचित नहीं है। वह धर्म सम्पूर्ण भारतीय धर्मों का समन्वित रूप था। फिर भी अशोक में जो परिवर्तन हुआ तथा जिसके कारण वह चंडाशोक से धर्माशोक बना, वह निश्चित रूप से बौद्ध धर्म के प्रभाव का परिणाम था। भाब्रू शिलालेख में कुछ बुद्ध-वचनों का नाम लेकर उनके सतत स्वाध्याय की जो प्रेरणा दी गयी है, वह निश्चित ही तिपिटक के ऐतिहासिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तिपिटक अशोक के समय में एक निश्चित रूप धारण कर चुका था। शिलालेख में प्रयुक्त धम्मपलियाय शब्द भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा प्रस्तुत पालि शब्द की व्युत्पत्ति में प्रमुख साक्ष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

साँची और भारहुत के अभिलेखों में उल्लिखित सुत्तन्तिक, पेटकी, धम्मकथिक, पञ्चनेकायिक, भाणक जैसे शब्द यह बतलाते हैं कि ईसा-पूर्व तीसरी-दूसरी शताब्दी पूर्व पिटक, सुत्त, पंचनिकाय आदि में बुद्ध-वचनों का वर्गीकरण प्रसिद्ध था और उनका संगायन करनेवाले भिक्षु भी पाये जाते थे। भारहुत और साँची की पाषाण-वेष्टनियों पर अंकित चित्र जातक की प्राचीनता को व्यक्त करते हैं। सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख धम्मचक्कपवत्तनसुत्त के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं।

बरमा के अभिलेख बौद्ध धर्म एवं पालि-साहित्य के विकास को जानने के लिये परम उपयोगी हैं। मौगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेखों में से पहला पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी में बरमा में बौद्धधर्म की प्रगति पर प्रकाश डालता है तो द्वितीय लेख में त्रिरत्न-वन्दना अंकित है। बोबोगी के खण्डित पाषाणलेख में अभिधम्मपिटक के ही एक ग्रन्थ का उद्धरण है, जो बरमा में अभिधम्मपिटक के प्रति व्याप्त सम्मान को व्यक्त करता है। इसी प्रकार प्रोम के स्वर्णपत्र-लेख में विनय एवं अभिधम्मपिटक के कुछ उद्धरण हैं।

पेगन के १४४२ ई० के अभिलेख में भिक्षुसंघ के लिए बौद्ध उपासक वौंगद्विन और उसकी पत्नी द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है। अन्य वस्तुओं के साथ उन

२९५ ग्रन्थों का भी उल्लेख है, जिनका दान भिक्षुसंघ को दिया गया था। अभिलेख में उल्लिखित २९५ ग्रन्थों की यह सूची बरमा में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पालि-साहित्य की प्रगति को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। राजा धम्मचेति के कल्याणी अभिलेख में, जिसका समय १४६७ ई० है, उन ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनकी सहायता से भिक्षुओं की उपसम्पदा-विधि एवं विहार-सीमा के विषय में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया था। इन ग्रन्थों में पातिमोक्ख, खुद्दकसिक्खा, विमतिविनोदिनी, विनय-पालि, सारत्थदीपनी, कंखावितरणी, विनयसंगहप्पकरण, सीमालंकारप्पकरण आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिलेख-साहित्य पालि-साहित्य के विकासक्रम को जानने के लिए अत्यधिक उपयोगी है। इसीलिए इतिहास-लेखकों ने पालि-साहित्य के अभिन्न अंग के रूप में अभिलेख-साहित्य को भी अपने इतिहास में स्थान देकर उसे उचित गौरव प्रदान किया है।

उपसंहार

विगत पृष्ठों में जिस भाषा के साहित्य का विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसकी गणना मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं में की जाती है। पालि भाषा एवं उसके साहित्य के महत्त्व को विदेशियों ने समझा तथा उसे अपने अध्ययन का विषय बनाया, किन्तु जिस देश में वह साहित्य पल्लवित एवं पुष्पित हुआ, उसी देश में वह शताब्दियों तक विस्मृत बना रहा। अब इस बात से सन्तोष होता है कि बीसवीं शताब्दी ईसवी में भारत के विद्वज्जन पालि-साहित्य के महत्त्व को आँककर उसे अपने पठन-पाठन एवं शोध का विषय बना रहे हैं।

पालि भाषा एवं साहित्य के महत्त्व को बताने के लिए यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस समय जो भाषाएँ उपलब्ध हैं, उनमें पालि ही एक मात्र ऐसी भाषा है जिसके माध्यम से भगवान् बुद्ध, उनके प्रवर्तित धर्म एवं स्थापित संघ की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। पालि तिपिटक एवं उसके अट्ठकथा साहित्य को बुद्ध, धर्म एवं संघ का सबसे बड़ा परिचायक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त तिपिटक एवं उसका व्याख्या साहित्य भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास का मूल आधार-स्तम्भ है, क्योंकि इसमें ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी तक की भारत की भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति को स्पष्ट करने वाले तथ्य विद्यमान हैं।

पालि तिपिटक-साहित्य के समान ही उसका अट्ठकथा (व्याख्या) साहित्य भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस अट्ठकथा-साहित्य का संकलन तिपिटक-साहित्य के संकलन के समय ही हुआ था। इस दृष्टि से तिपिटक का अट्ठकथा-साहित्य वैदिक साहित्य एवं जैनागम-साहित्य के टीका-साहित्य से भिन्न है। कालक्रम से जब वेद या जैनागम पुराने होते गये और धीरे-धीरे उस साहित्य की अनेक बातें विस्मृत होने लगी तब वेदों या जैनागमों के विषय को स्पष्ट करने के लिए उनके व्याख्या-साहित्य का सर्जन हुआ। किन्तु तिपिटक एवं उसके अट्ठकथा-साहित्य का संकलन समकालिक है। संकलित हो जाने के बाद स्थविर महेन्द्र मौखिक परम्परा के रूप में उसे लंका ले गये। वहाँ तिपिटक तो मूल रूप में ही लिपिबद्ध कर लिया गया था, किन्तु अट्ठकथा साहित्य को सिंहली भाषा में अनूदित कर लिपिबद्ध किया गया था। कालान्तर में बुद्धघोस, बुद्धदत्त तथा धम्मपाल आदि स्थाविरों ने सिंहली में अनूदित अट्ठकथाओं का पुनः पालि में रूपान्तर किया था। इस अट्ठकथा-साहित्य में बुद्ध के समय प्रचलित अनेक अनुश्रुतियों, परम्पराओं, ऐतिहासिक कथानकों तथा अनेक धार्मिक एवं लौकिक कथाओं का आधिक्य है। अतः यह

अट्ठकथा-साहित्य भारतीय समाज एवं सभ्यता की विस्तृत जानकारी देने वाले महत्त्वपूर्ण साहित्य के रूप में प्रसिद्ध हो गया है।

ईसा की छठी शताब्दी के बाद भारत में पालि की साहित्यिक गतिविधियों में मन्दता आ गयी और जब बौद्ध धर्म के अन्य सम्प्रदायों द्वारा स्थविरवादियों को भारत के बाहर जाने को विवश किया गया तो स्थविरवादी भिक्षु दक्षिण भारत की ओर गये तथा अन्त में लंका के विहारों में जा बसे। फलतः लंका के विहार पालि-साहित्य के सर्जन के प्रमुख गढ़ बन गये। ईसा की १२-१३ वीं शताब्दी में तो लंका में पालि भाषा में विभिन्न ग्रन्थों का सर्जन अपने चरम उत्कर्ष पर था। लंका में साहित्य सर्जन की उक्त गतिविधियों का सारा श्रेय वहाँ के तत्कालीन राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११५३ ई०–११८६ ई०) एवं पराक्रमबाहु द्वितीय (१२३६ ई०–१२७१ ई०) को है। पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल में मोग्गल्लान व्याकरण की रचना की गयी तथा सारिपुत्त एवं उनके प्रमुख शिष्यों द्वारा तिपिटक के टीका-साहित्य के सर्जन का महान् कार्य सम्पन्न हुआ। पराक्रमबाहु द्वितीय के शासन-काल में पालि के काव्य, अलंकार, छन्दःशास्त्र आदि से सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए भारत के प्रकाण्ड पण्डितों को लंका बुलाया गया। इन पण्डित भिक्षुओं ने संस्कृत के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों को आधार बनाकर पालि में ग्रन्थ-रचना की। फलतः इन कवियों एवं लेखकों की कृतियाँ भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से न केवल संस्कृत ग्रन्थों से प्रभावित रहीं, अपितु उनकी रचनाएँ कृत्रिमता एवं नीरसता से भी ग्रस्त हो गयीं। इसके अतिरिक्त अपनी रचनाओं में रसानुभूति एवं भक्तिभावना का समावेश करने के कारण ये कवि भिक्षु अपनी स्थविरवादी परम्परा से कुछ अलग-थलग से हो गये। फिर भी इस काल में गुणों एवं अलंकारों से ओत-प्रोत ग्रन्थों के प्रणयन ने पालि साहित्य में एक खटकनेवाले अभाव की पूर्ति की, जो साहित्य की दृष्टि से निश्चित ही एक सराहनीय कार्य था। कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों को सजाने एवं संवारने के लिए ज्ञेयावरण प्रहाण, महाकरुणा, भक्तिभावना, धर्मकाय, एवं निर्माणकाय जैसी महायानी मान्यताओं को भी बिना किसी संकोच के अपनाया था, जो उनकी उदारवृत्ति का द्योतक है।

लंका के अतिरिक्त बरमा एवं थाई देशों में भी १४वीं शताब्दी ईसवी से १७वीं शताब्दी ईसवी तक पालि-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये। किन्तु चूंकि बरमा एवं थाई देशों में काव्य-ग्रन्थों की रचना बुद्ध-शासन के विरुद्ध समझी जाती थी, अतः इन देशों में अधिकतर व्याकरण या अभिधम्म से सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

आधुनिक युग में भी पालि भाषा में शोध-प्रबन्धों का लेखन सफलता पूर्वक चल रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत पालि-

भाषा में लिखे गये कुछ शोध-प्रबन्धों का विवरण इस प्रकार है—फ्रामह प्रीचा पिंग-खुन्टोडकृत मज्झिमनिकायस्स धम्मट्ठविनिच्छयो (१९७८ ई०), फ्रामह खोमेट सुवनकन्य-कृत सुत्तपिटके उपलद्धं भगवतो बुद्धस्स अपदानं (१९८१ ई०), फ्रामह ओंगआजचुंग-सांगकृत तिपिटकभूमिपकासिनी (१९८२ ई०), फ्रामह विनइ तफोपोंगकृत सुत्तपिटक-नयेन उपासकाचारस्स अवधारणा (१९८४ ई०), फ्रामह ओन क्लिसलीकृत भिक्खु-पातिमोक्खस्स पवत्ति चेव विकासो च (१९८६ ई०), फ्रामह बूंसिन खूनुडमकृत बुद्ध-सासने समथविपस्सना (१९८६ ई०) आदि।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परीक्षकों ने उक्त शोध-प्रबन्धों की भाषा एवं विषय-वस्तु को सराहा है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि प्रकाशित होने के बाद उक्त शोध-प्रबन्ध पालि-साहित्य के ग्रन्थ के रूप में मान्य होंगे। यदि पालि भाषा का प्रयोग पठन-पाठन एवं शोधकार्यों में किया जाय तो आज भी पालि-भाषा बुद्ध के समय के समान व्यवहार में आने वाली जीवित भाषा के रूप में पुनः विकसित हो सकती है।

परिशिष्ट

१. ग्रन्थकार-अनुक्रमणी

२. ग्रन्थ-अनुक्रमणी



प्रमुख सांस्कृतिक ग्रंथ

काशी की पाण्डित्य परम्परा		
	पं० बलदेव उपाध्याय	१५०.००
काशी का इतिहास		
	डा० मोतीचन्द्र	१५०.००
काशी का रंग परिवेश		
	कुंवरजी अग्रवाल	१००.००
उपरूपकों का उद्भव और विकास		
	डा० इन्द्रा चक्रवाल	१००.००
पालि-प्राकृत-अपभ्रंश संग्रह		
	डा० रामअवध पाण्डेय तथा डा० रविनाथ मिश्र	२५.००
भारत के महान् योगी (दो खंड)		
	विश्वनाथ मुखर्जी	५०.००
प्रकाशपथ का यात्री		
	सन्त योगेश्वर	४०.००
शिवराम त्रिपाठी कृत लक्ष्मी विलास कोश		
	डा० रामअवध पाण्डेय	४०.००
मृच्छकटिक : शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन		
	डा० शालग्राम द्विवेदी	५०.००



विश्वविद्यालय प्रकाशन

वाराणसी